

MAA OMWATI DEGREE COLLEGE

HASSANPUR

NOTES

**SUBJECT: - Science and Technology
in Pre-Colonia India**

CLASS:- M.A. (History) 1st Semester

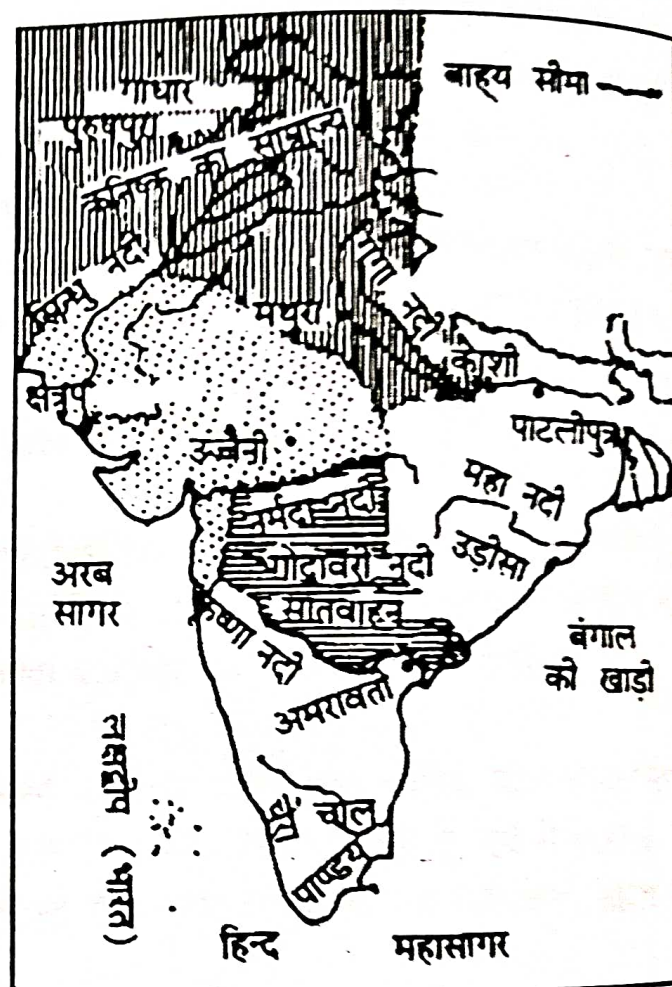
- इसवी की पहली शताब्दी से 1200 ई. तक भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए विकास की रूपरेखा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

ईसवी की पहली शताब्दी से 1200 ई. तक भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

भारत के इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो हम पाएंगे कि 197 ई. पूर्व के लगभग मौर्य वंश का पतन हो गया था। मौर्य वंश के पतन के कारण देश में अनेक क्षेत्रीय वंशों का उदय हुआ। उसी समय मध्य एशिया तथा पश्चिमी चीन से भी अनेक आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण किए। इनमें भारतीय-यूनानी, शक, पल्लव तथा कुषाण प्रमुख थे। अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया जिनमें आपस में कटु प्रतिस्पर्धा थी। उनके बाद जिस साम्राज्य का उदय हुआ, वह कुषाण वंश था। यह साम्राज्य ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में उभरा। इसमें न केवल उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी भारत के क्षेत्र आते थे बल्कि मध्य एशिया और वर्तमान पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के क्षेत्र भी आते थे। कनिष्क के शासन काल में (द्वितीय शताब्दी) उसका साम्राज्य पूर्व में बिहार के कुछ हिस्सों के साथ-साथ मध्य एशिया में नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। दक्षिण भारत में, लगभग इसी समय सातवाहनों, क्षत्रपों तथा वाकाटकों के कुछ शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ।

दक्षिण भारत में यह समय शिल्प तथा वाणिज्य के इतिहास में सबसे अधिक वैभवशाली समय था। तत्कालीन शिलालेखों में बुनकरों, स्वर्णकारों, रंगसार्जों, जौहरियों, मूर्तिकारों तथा धातु एवं हाथी दाँत के कारीगरों का उल्लेख किया गया है। इससे इस बात का पता लगता है कि ये शिल्प बहुत विकसित थे। उस समय के लोहे के औजार और सामान जैसे कि करछी, उस्तरे,



चित्र : भारत के विभिन्न साम्राज्य (लगभग 150 ईसवी)

कुल्हाड़ियाँ, हंसिए, फावड़े, हल के फाल आदि आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के करीमनगर तथा नालगोंडा जिलों में पाये गए हैं। सीसे, तांबे, काँसे, चांदी तथा सोने के सिक्के भी पाये गये हैं। इनमें से कई सिक्के सातवाहन राज्य के हैं। इससे यह पता चलता है कि उन्होंने लौह-धातु-विज्ञान में ही नहीं बल्कि पीतल, जस्ता, ऐंटीमनी आदि के धातु कर्म में भी बहुत बड़ी महारत हासिल कर ली थी। कपड़ा बनाना, रेशम की बुनाई तथा हाथी दाँत, काँच और मोतियों से विलास की वस्तुएँ भी बनायी जाती थीं। दक्षिण भारत के कुछ शहरों में रंगाई उद्योग एक फलता-फूलता उद्योग था। ईंटों के बने रंगाई के हौज, जो पहली से तीसरी शताब्दी के थे, तमिलनाडु में उरईयूर तथा अरिकामेडू की खुदाई में पाये गये हैं। पहियों द्वारा चलने वाले कोल्हू से तेल निकाले जाने से तेल के उत्पादन में वृद्धि हो गयी।

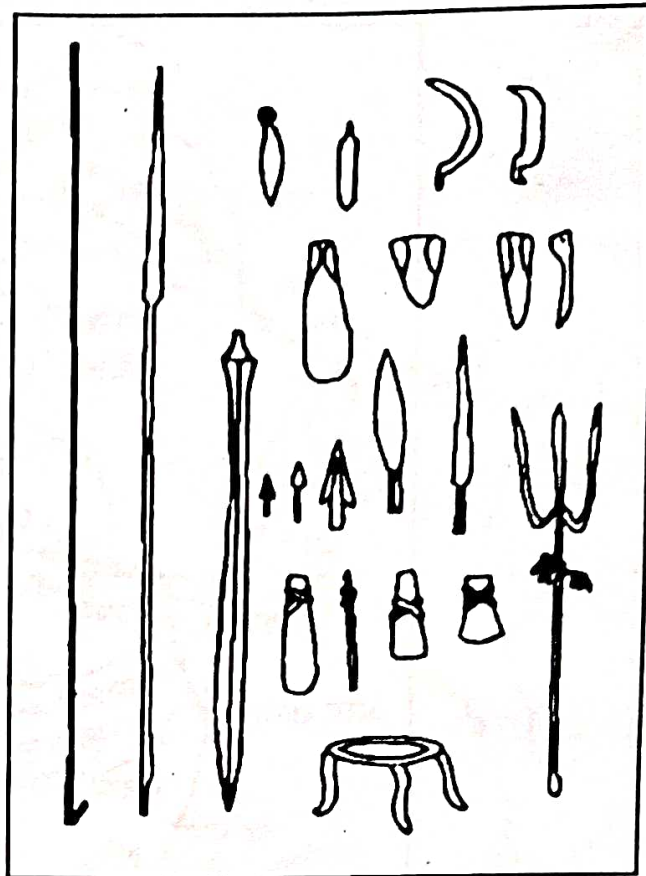
उस समय समुद्री मार्ग से बड़े पैमाने पर व्यापार होता था। यह ज्ञान, कि मानसूनों से नौकायन में काफी सहायता मिलती है, समुद्री मार्ग से व्यापार करने वाले व्यापारियों के लिए काफी लाभदायक सिद्ध हुआ। अफ्रीका के बंदरगाहों को लोहा तथा इस्पात की वस्तुएँ जैसे कि छुरी-काँटे आदि, निर्यात की जाती थीं। मलमल, मोती, जवाहरात, हीरे तथा मसाले रोम को निर्यात किये जाते थे। इस फलते-फूलते उद्योग के कारण सातवाहनों द्वारा शासित नगरों की समृद्धि बढ़ गयी।

किंतु इन साम्राज्यों का तीसरी शताब्दी के बाद पतन शुरू हो गया। चौथी शताब्दी के आरंभ में गुप्त वंश के उदय के साथ भारतीय साम्राज्यों का महान् युग अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

गुप्त साम्राज्य काफी बड़े भू-भाग पर फैला हुआ था। इसका क्षेत्र उत्तर, दक्षिण-पूर्वी तथा पश्चिमी भारत तक फैला हुआ था। सांस्कृतिक दृष्टि से चंद्रगुप्त द्वितीय (380-415 ई.) के राज्य में इसका विकास चरम सीमा पर था (देखिए चित्र)।

गुप्त साम्राज्य में भी उत्पादन का मुख्य साधन कृषि ही था। मौर्यों द्वारा आरंभ किया गया भूमि-अभिग्रहण का कार्य गुप्त सम्राटों ने भी जारी रखा। समुद्रगुप्त ने गंगा, नर्मदा और महानदी की घाटियों में स्थित जंगल के अनेक राज्यों को जीतकर इस दिशा में अंतिम प्रयास किया। किंतु इस काल में भूमि-व्यवस्था मौर्य काल में अपनायी गयी भूमि-व्यवस्था से एकदम भिन्न थी। साफ की गयी भूमि पर राज्य का स्वामित्व एवं नियंत्रण काफी हद तक कम हो गया और भूमि अब लोगों के हाथों में आ गयी। लोगों को अपनी भूमि का प्रबंध करने तथा कर वसूल करने की अनुमति देने के लिए कानून बनाये गये। इससे राज्य का कोई सरोकार न रहा कि वे लोग स्वयं खेती करते थे या नहीं। अधिकांश गुप्त सम्राटों का अपना धर्म चाहे जो भी रहा हो, जहाँ तक राज्य का संबंध था, वे धर्म-निरपेक्ष थे। बौद्ध धर्म जैन, धर्म तथा परंपरागत हिंदू संगठनों को अनुदान के माध्यम से सहायता दी जाती थी तथा संरक्षण प्रदान किया जाता था।

किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पहले वंश परंपरा के आधार पर जानी जाती थी, पर अब कुछ हद तक उस व्यक्ति की संपत्ति उसकी सामाजिक स्थिति का मापदंड बन गयी थी। इस प्रकार ब्राह्मणों का महत्त्व कम हो गया। कृषि को महत्त्व देने तथा दस्तकारी की वस्तुओं का उत्पादन आरंभ होने से शूद्रों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। समाज में कौन क्या करता



चित्र : दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों में स्थित समाधियों से प्राप्त लोहे के औजार और अन्य वस्तुएं। हंसिया, छुरा, कुल्हाड़ी, तीर के सिरे भाले के सिरे, भाला, तलवार, त्रिशूल और तिपाई।

है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। यहाँ तक कि ब्राह्मणों को भी धार्मिक अनुष्ठानों के अलावा दूसरे काम करने पड़े।

पिछले काल की तुलना में इस काल में कठोर राजकीय नियंत्रण हटा देने का काफी अच्छा प्रभाव पड़ा, क्योंकि इससे लोगों को कार्य में पहल करने की प्रेरणा मिली। इससे ब्राह्मणों का प्रभाव कम होने के साथ-साथ कृषि पर आधारित समाज पर कठोर वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव भी कम होना शुरू हो गया।

ईसा की पांचवी शताब्दी के उत्तरार्ध तक, गुप्त साम्राज्य काफी कमजोर हो गया था। हूणों ने उत्तर की ओर से आक्रमण करके न केवल पंजाब और राजस्थान पर अधिकार कर लिया बल्कि पूर्वी मालवा तथा मध्य भारत के भी बड़े भू-भाग पर अपना कब्जा कर लिया था। हूणों के शिलालेख मध्य भारत में प्राप्त हुए हैं। गुप्त राजा जिन राज्यपालों को शासन करने के लिए नियुक्त करते थे, वे प्रायः स्वतंत्र होते थे। ईसा की छठी शताब्दी के शुरू तक उन्होंने अपने अधिकार से ही भूमि के रूप में अनुदान देना शुरू कर दिया।

पश्चिमी भारत हाथ से निकल जाने पर व्यापार और वाणिज्य से प्राप्त होने वाला राजस्व गुप्त राजाओं को मिलना बंद हो गया। इससे सेना पर होने वाले खर्च तथा धार्मिक आदि कार्यों के लिए धन की कमी हो रही थी और धार्मिक साधन भी काफी कम हो गये थे।

जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था टूटने लगी, वैसे-वैसे शिल्पकला और अन्य वस्तुओं की मांग भी तेजी से घटती गयी। नतीजा

यह निकला कि कई कुशल कारीगरों ने जीविका चलाने के लिए दूसरे व्यापार अपना लिये। 473 ई. में रेशम के बुनकरों का गुजरात से मालवा को जाना एक ऐसा ही उदाहरण है।

इस प्रकार आंतरिक तथा बाह्य दोनों कारण मिल गये और उससे गुप्त साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया। टुकड़ों में बँटा यह साम्राज्य अब विज्ञान की प्रगति के लिए सामाजिक एवं बौद्धिक आधार प्रदान करने में असमर्थ हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन से भारतीय समाज अशांति और संघर्ष के एक लंबे दौर से गुजरने लगा। एक मात्र अपवाद दक्षिण भारत का चोल साम्राज्य था, जहाँ तकनीकी और शिल्प एक बार फिर गुप्त साम्राज्य की ही तरह फलने-फूलने लगे।

सन् 750 से 1200 के मध्य का समय भारतीय इतिहास में आरम्भिक मध्यकालीन युग के नाम से जाना जाता है। पूर्व में इतिहासकारों द्वारा इसे 'अंधेरे युग' की संज्ञा दी गई थी। यह संभवतः इसलिए कि इस दौरान संपूर्ण राष्ट्र छोटे-छोटे

प्रांतों में विभक्त था, जो आपस में युद्ध करने में व्यस्त रहते थे। किन्तु नवीनतम अध्ययन इस बात की ओर इशारा करते हैं कि राजनीतिक रूप से छिन्न-भिन्न भारत भी कला, साहित्य तथा भाषा के क्षेत्र में नई समृद्ध सांस्कृतिक उपलब्धियों का केन्द्र बना। जबकि मंदिर स्थापत्य कला भारतीय साहित्य के क्षेत्र में तथा कुछ सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इसी काल की देन हैं। इस प्रकार 'अंधेरे' से हट कर इसे भारतीय इतिहास का सबसे प्रभावशाली काल कहा जा सकता है। हर्षवर्धन के पश्चात् का राजनीतिक विकास तभी बेहतर ढंग से समझा जा सकता है यदि हम 750-1200 ई. तक की कालावधि को दो चरणों में विभाजित करें—750 ई.—1000 ई. तथा 1000 ई.—1200 ई.। प्रथम चरण में भारत में तीन प्रमुख राजनीतिक शक्तियों का उदय हुआ। ये थे, उत्तर भारत में प्रतिहार, पूर्वी भारत में पाल तथा दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट। ये तीनों वंश उत्तर भारत के गंगा क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आपस में लगातार युद्ध करते रहते थे। इन शक्तियों के मध्य सशस्त्र संघर्ष को त्रिपक्षीय युद्ध की संज्ञा दी जाती है। दूसरे चरण में हम इन शक्तियों का विघटन पाते हैं। इसके परिणामस्वरूप भारत में कई छोटी-छोटी सत्ताओं का उदय हुआ। उदाहरण के लिए, उत्तर भारत में प्रतिहार वंश के विघटन के फलस्वरूप विभिन्न राजपूत वंशों, जैसे—चौहान, चंदेल तथा परमार इत्यादि के नियंत्रण में राजपूत वंश आ गए। ये वही प्रान्त थे, जिन्होंने 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में मुहम्मद गोरी तथा महमूद गजनवी के आक्रमणों से भारत की रक्षा की। किन्तु आक्रमणकारियों के खिलाफ संगठित न हो पाने की वजह से वे अन्ततः हार गए।

पहली शताब्दी से 1200 ई. तक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

ईसा की पहली शताब्दी से लेकर 1200 ई. तक भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अत्यधिक उन्नति हुई। इस काल में गुप्त काल में तो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी अपने शिखर पर थीं। हम उपर्युक्त 1200 वर्षों के भारतीय इतिहास में हुई विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास की विवेचना निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत कर सकते हैं :

पहली शताब्दी से 1200 ई. तक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

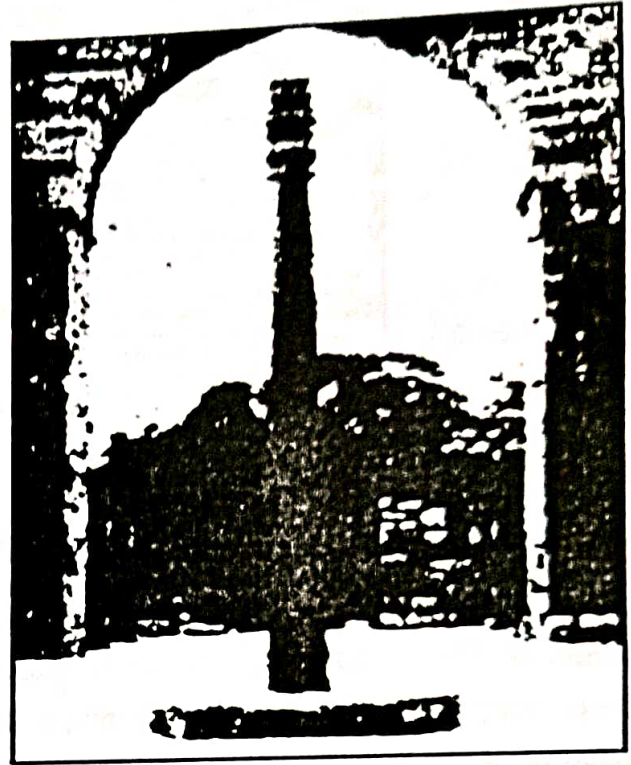
1. → कृषि क्षेत्र में विकास
2. → शिल्पकला में विकास
3. → व्यापार में विकास
4. → गणित के क्षेत्र में उपलब्धियां
5. → खगोल विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियां
6. → चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियां
7. → परिवहन के क्षेत्र में उपलब्धियां
8. → धातु-विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियां

1. **कृषि क्षेत्र में विकास :** काली मिर्च और मसालों की पैदावार घरेलू खपत तथा निर्यात, दोनों के लिए की जाती थी। विभिन्न किस्मों की फसलें, जैसे—चावल, गेहूँ, जौ, तिल, दालें, कई प्रकार की सेम एवं मसूर तथा सब्जियाँ, जैसे—ककड़ी, प्याज, लहसुन, सीताफल तथा पान आदि का उत्पादन किया जाता था। कई प्रकार के नये फल, जैसे कि नाशपाती तथा आड़ू की पैदावार भी पहली बार शुरू की गयी। यह सब किसी संयोग से नहीं हुआ। इसके लिए बाकायदा

नियम पुस्तिकाएँ बनायी गयी थीं। इनमें कई बातों की जानकारी दी जाती थी। जैसे—प्रत्येक पौधे के लिए मिट्टी का प्रकार और उसका गुण क्या होना चाहिए, पौधों में कौन-कौन सी बीमारियाँ लग सकती हैं, पौधों के बीच फासला कितना होना चाहिए तथा साथ ही बुवाई की तकनीकें क्या हैं अर्थात् बुवाई के पहले मिट्टी कैसी तैयार की जाती है, आदि। इन पुस्तिकाओं में अनाज, सब्जियों तथा फलों की किस्मों के लिए नये-नये तरीके दिये गये थे। विभिन्न किस्म की मिट्टी के लिए हल्के फालों के वजन और आकार निर्धारित कर दिये गये और इस प्रकार कृषि-औजारों के लिए लोहे का इस्तेमाल एक आम बात हो गयी।

2. **शिल्पकला में विकास :** धातु कर्म तथा बुनाई की कला में इस काल में बहुत अधिक प्रगति हुई। जंग न लगने वाले लोहे तथा ताँबे के मिश्र-धातु बनाये जाते थे तथा उनका प्रयोग जटिल किस्म की अरीनिक तथा सैनिक इस्तेमाल की वस्तुएँ बनाने के लिए किया जाता था। इन वस्तुओं की गुणवत्ता इतनी अच्छी होती थी कि उनका बड़े पैमाने पर अफ्रीका जैसे देशों में निर्यात किया जाता था। इन वस्तुओं के डिजाइन पर कुछ हद तक ग्रीक-रोमन एवं मध्य एशियाई प्रभाव था। किंतु कुल मिलाकर उनका स्वरूप स्थानीय ही था (चित्र)।

बुनाई में सूती तथा रेशमी कपड़े बनाने की तकनीकों में काफी निखार आ गया था। रंगों का निर्माण तथा कपड़ों की रंगाई में उनका बड़े पैमाने पर इस्तेमाल शुरू हो गया था। भारतीय वस्त्र, खास कर बनारस एवं बंगाल के वस्त्र, अपने हल्के वजन और सुंदर बुनावट एवं तंतु विन्यास के लिए प्रसिद्ध हो गये। ये वस्त्र पश्चिमी देशों में भी लोकप्रिय हुए जिससे इनका निर्यात व्यापार की एक महत्वपूर्ण सामग्री बन गया था।



चित्र : दिल्ली के महरौली में स्थित लौह स्तंभ

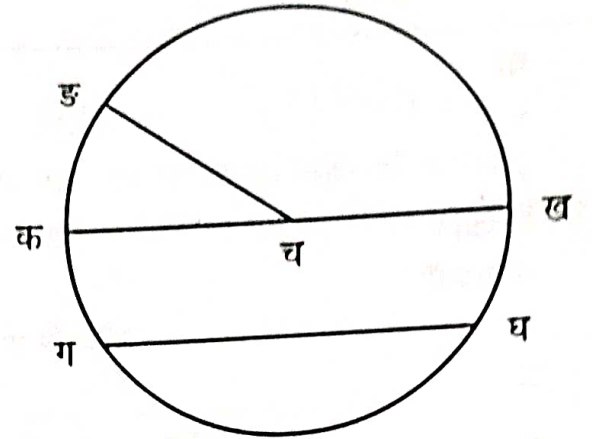
राज्य के हस्तक्षेप में कमी आने के फलस्वरूप इस नयी व्यवस्था में कारीगरों या शिल्पकारों की संस्थाएँ बन गयीं जो काफी शक्तिशाली और महत्वपूर्ण हो गयीं। उन्हें काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी तथा व्यक्तियों के बीच प्रायः अनुबंध होते थे; यहाँ तक कि राजकीय अधिकारियों के साथ भी करार किये जाते थे। इस 'श्रेणी' के शिल्पकार लोगों से पूँजी उधार लिया करते तथा उन्हें ब्याज सहित रकम वापस लौटा दिया करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि बढ़ते हुए व्यापार के कारण शिल्पकला में सुधार की दिशा में काफी सहायता मिली।

3. **व्यापार में विकास :** जैसे-जैसे आंतरिक तथा बाहरी व्यापार का अनुपात तथा उसकी मात्रा तेजी से बढ़ती गयी, वैसे-वैसे वस्तुओं का सीधे उत्पादन करने वालों का महत्व बढ़ता गया। जिन क्षेत्रों में पहले जाना भी मुश्किल था तथा जो बसे हुए नहीं थे, उनके खुल जाने और परिवहन, संचार तथा व्यापारिक मार्ग की बेहतर सुविधाओं के कारण व्यापार में काफी वृद्धि हुई। एक विस्तृत साम्राज्य में दूर तक फैले हुए बड़े-बड़े बाजारों के अस्तित्व से फलते-फूलते व्यापार में मुद्रा प्रसार की बहुत बढ़ावा मिला। कारीगरों की तरह ही व्यापारियों की संस्थाएँ भी अस्तित्व में आयीं जिन्हें "श्रेणी" कहा जाता था। मुख्य व्यापारिक मार्ग गंगा और सिंधु नदियों के आस-पास थे। वस्तुओं के खरीदने और बेचने पर अभी तक शासन का नियंत्रण था। कुषाणों, सातवाहनों और गुप्त वंश द्वारा स्थापित राजनयिक संबंधों से प्रोत्साहित तेजी से विकसित होते हुए विदेशी व्यापार से आंतरिक व्यापार में वृद्धि हुई, विशेष रूप से मानसून के ज्ञान के प्रयोग से भारतीयों द्वारा जहाजरानी में सुधार और जलयानों के नये नमूनों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारतीयों ने अरबों, भूमध्य देशों, खासकर रोम, अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों, जैसे—जावा, सुमात्रा और श्रीलंका के साथ व्यापार किया। इन संबंधों ने भी व्यापार की वृद्धि में सहयोग दिया।

उपर्युक्त वर्णन से उस भारतीय समाज की एक ऐसी झलक मिलती है जहाँ वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय स्वदेशी बाजारों के फैलाव और विदेशी व्यापार में वृद्धि के कारण जोरों पर था। इन गतिविधियों से उत्पादन की नयी तकनीकों, बेहतर प्रबंध के लिए नये प्रकार के गणित तथा अंकज्ञान और निर्माण, संचार तथा जहाजरानी के नये तरीकों की आवश्यकता महसूस हुई। यह बात उल्लेखनीय है कि नयी तकनीकों की यह सामाजिक माँग ऐसी परिस्थिति में पैदा हुई जब पूर्वकाल का कठोर प्रशासनिक नियंत्रण व्यक्तिगत उपक्रम के पक्ष में कुछ कम कर दिया गया था। पुराने विशिष्ट शासक कुछ हद तक ढीले पड़ रहे थे। इस समय एक सीमा तक सामाजिक गतिशीलता आयी जिससे संभवतः शिक्षित और अशिक्षित वर्ग में संपर्क स्थापित होने शुरू हो गये थे। यह एक ऐसा समाज था जहाँ पुरानी जाति व्यवस्था जो कमजोर पड़ चुकी थी, कायम थी, पर श्रम विभाजन के आधार पर एक नयी जाति व्यवस्था भी अस्तित्व में आयी जो उस समय तक सुदृढ़ नहीं थी।

4. **गणित के क्षेत्र में उपलब्धियाँ :** हम जानते हैं कि भारत में गणित शास्त्र की परंपरा प्राचीन-युग से चली आ रही है। “शूल्ब ज्यामिति” की परंपरा जैन गणितज्ञों ने भी बनाये रखी। उन्होंने 500 ई.पू. से 500 ई. तक की लंबी अवधि में इसमें बहुत बड़ा योगदान दिया। यह संभव है कि ग्रीक लोगों के साथ संपर्क बढ़ने के कारण, भारतीय गणितज्ञों पर उनका प्रभाव पड़ा होगा। इसके अतिरिक्त, जैन परंपरा जो गुप्त काल में उत्तर से दक्षिण भारत में फैली थी, अब मैसूर तथा उज्जैन की गणित शाखा के भी संपर्क में आयी। इस विकास-क्रम की ठीक पद्धति जो भी रही हो परंतु गुप्त काल में गणित, बीजगणित तथा संख्याओं की एक सशक्त धारा उभरकर सामने आयी। ये सूत्र अथवा नियम इस सीमा तक खगोल-विज्ञान से संबंधित गणनाओं के लिए आधार बन गये कि उस समय के ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर तथा आर्यभट्ट जैसे महान् खगोल विज्ञानी, गणितज्ञ तथा खगोल-विज्ञानी, दोनों ही रूपों में प्रसिद्ध थे। यह परंपरा गुप्त-काल में ही समाप्त नहीं हो गयी बल्कि भास्कर के समय (बारहवीं शताब्दी) तक चलती रही। यह पश्चिम की ओर भी गयी तथा इसने अरबी गणितज्ञों को भी काफी प्रभावित किया।

(i) **जैनों का गणित-शास्त्र** : जैन साधु अपनी धार्मिक शिक्षा में गणित के ज्ञान को बहुत महत्व देते थे। उमारवाति तथा अन्य लोगों द्वारा लिखित स्थानांग-सूत्र (100 वर्ष ई. पू.), सूर्यप्रजापति, भद्रबाहवी संहिता (300 वर्ष ई. पू.), तथा क्षेत्रसमाप्त (150 ई.) में क्षेत्रमिति (mensuration), करणी (surds), भिन्न (fraction), क्रमचय और संचय (permutations & combinations), ज्यामिति (geometry), घातांक-नियम (law of indices) और संख्याओं के वर्गीकरण (classification of numbers) आदि का विस्तार से विवरण दिया गया है। जैनियों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले ये विषय तथा विभिन्न तकनीकी शब्दावलियाँ बाद में विद्वानों के गणितीय ग्रंथों में अपना ली गयी, चाहे उनकी धार्मिक विचारधारा जो भी रही हो। जैन गणितज्ञों ने क्षेत्रमिति में यह स्पष्ट किया कि किसी वृत्त के व्यास, परिधि, चाप और किसी वृत्त की जीवा में क्या संबंध है। इस प्रक्रिया में उन्होंने करणी का अनुमानित मूल्य निकालने के हल प्रस्तुत किये। हम पाते हैं कि जैनी बड़े और जटिल गणितीय गुणनफलों का प्रयोग करते थे। मिश्रित संख्याओं का हल निकालने में वे प्रायः अनुमानित मूल्य का सहारा लेते थे। जब भी भिन्न के भाग का मान $1/2$ से अधिक होता, तो वे उसके स्थान पर 1 मान लेते थे तथा $1/2$ से कम



चित्र : एक वृत्त, जिसका केन्द्र च पर स्थित है, व्यास क ख है, ग घ जीवा है और क ङ चाप है।

होने पर वे उसे छोड़ देते थे। इस प्रकार $315089\frac{218}{630}$ के स्थान पर वे 315089 रखते थे तथा $318314\frac{550}{636}$ के स्थान पर 318315 रखते थे।

भगवती-सूत्र (ई.पू. पहली शताब्दी) में जैनी "n" मूलभूत वर्गों में से एक बार में एक (एकैक संयोग), एक बार में दो (द्विक संयोग), एक बार में तीन (त्रिक संयोग) अथवा एक बार में बहुत सी संख्याएँ लेकर संचय की संभावित संख्याओं के बारे में अनुमान लगाते थे। वे हर स्थिति में क्रमचय और संचय के सूत्रों को, जिन्हें हम आज जानते हैं, ज्ञात करने में सफल हुए। जैनियों ने इस प्रकार के सूत्र निकाल लिये थे :

$${}^nC_1 = n$$

$${}^nC_2 = \frac{n(n-1)}{2 \times 1}$$

$${}^nC_3 = \frac{n(n-1)(n-2)}{3 \times 2 \times 1}$$

$${}^nP_1 = n$$

$${}^nP_2 = n(n-1)$$

$${}^nP_3 = n(n-1)(n-2)$$

संख्याओं के संबंध में सभी जैन ग्रंथों में प्रयुक्त जो एक सन्निहित सूत्र है, वही आधुनिक घातांक नियम है;

$$a^m \times a^n = a^{(m+n)} \text{ तथा } a^{(m)^n} = a^{mn}$$

जहां m तथा n या तो पूर्णांक हैं अथवा भिन्न की संख्याएँ हैं।

(ii) **भारत में बीजगणित** : ब्रह्मगुप्त के समय से (लगभग 598 ई.) गणितशास्त्र की एक पृथक शाखा के रूप में बीजगणित का उदय हुआ। बीजगणित के भारतीय विद्वानों ने संभवतः इतिहास में पहली बार रंगों अथवा रत्नों के संक्षिप्त नामों को अज्ञात मात्राओं, संक्रियाओं, घातों, मूल आदि के प्रतीक के रूप में व्यक्त किया। उन्होंने ऋणात्मक मात्राओं को एक बिंदु द्वारा व्यक्त किया।

उन्होंने बीजगणित समीकरणों को तीन वर्गों में बाँटा था :

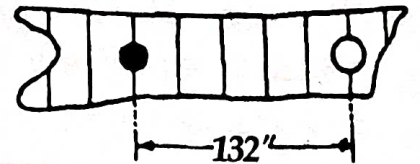
- (i) एक अज्ञात संख्या में समीकरण
- (ii) कई अज्ञात संख्याओं में समीकरण
- (iii) अज्ञात संख्याओं के गुणनफल का समीकरण

रैखिक तथा द्विघातीय समीकरणों के हल उन्हें मालूम थे। एक से अधिक अज्ञात संख्याओं के प्रथम तथा द्वितीय घात तक अनिश्चित समीकरणों के हल निकालना भी वे जानते थे। उदाहरण के तौर पर :

$$by = ax + c \text{ तथा } ax^2 + c = y$$

उच्चतर घात के समीकरणों के हल निकालने का भी उन्होंने प्रयास किया।

(iii) संख्याएँ : बीजगणित के अलावा, प्राचीन सभ्यता का संभवतः सबसे बड़ा योगदान संख्याओं का आविष्कार था। संख्याओं को शब्दों तथा अक्षरों द्वारा दर्शाने की आवश्यकता तब हुई जब मनुष्य के सामने बहुत बड़ी तथा बहुत छोटी संख्याओं की समस्या आई। उदाहरण के तौर पर, खगोल विज्ञान में या फिर मूल्यवान धातुओं को सही-सही तोलने में। इस काल में व्यापार तथा नौसेना संचालन में विस्तार होने के कारण विज्ञान के इन क्षेत्रों को बढ़ावा मिला। अब मानव अपने व्यापारिक लेन-देन, तारों की संख्याओं और दूरियों अथवा तारों के उदय होने की अवधि को व्यक्त करने के लिए दिनों की संख्या को खड़ी पाइयों से व्यक्त नहीं कर सकता था, जैसा कि हड़प्पा की सभ्यता के समय आम प्रथा थी।



चित्र : सिंधु घाटी में मिले
पैमाने का रेखाचित्र।

इस काल में जिन संख्यात्मक अंकन पद्धतियों का प्रयोग किया जाता था उनमें से कुछ अर्थात् खरोष्ठी तथा ब्राह्मी प्रणालियों को तालिका-2 में दर्शाया गया है। जहाँ तक खरोष्ठी संख्याओं का संबंध है, वे अशोक, शक (Saka), पार्थियन तथा कुषाणों के शिलालेखों में पायी जाती हैं। उनका समय ई.पू. चौथी शताब्दी

दशमलव या शून्य प्रणाली का सबसे पहला उल्लेख हमें एक गुर्जर अनुदान पत्र (Gurjara grant plate) लेख में 595 ई. में मिलता है, उसके बाद ग्वालियर, महिपाल, बौक आदि के शून्य शिलालेखों में पाते हैं। ऐसा लगता है कि इनका प्रयोग उस समय के तथा बाद के खगोल शास्त्रियों और ज्योतिषियों द्वारा किया गया और उसमें लगातार सुधार किया जाता रहा है। अरबों ने इस पद्धति को अपनाया और पहले की संख्याओं में इतना सुधार किया कि आज इन्हें अरबी संख्यापद या संख्याएँ कहा जाता है।

भारत में संख्याओं को वस्तुओं, जीवों अथवा विचारों के नाम से व्यक्त किया जाता था। शब्दों के नाम संख्याओं के साथ उनके संबंध पर विचार करने के बाद चुने जाते थे। उदाहरण के तौर पर :

- (i) सिफर, शून्य या "0" को आकाश, अंबर, शून्य द्वारा व्यक्त किया जाता था।
- (ii) 1 को पृथ्वी के पर्यायवाची शब्दों, जैसे—भू, धरा, पृथ्वी आदि अथवा चंद्रमा के पर्यायवाची शब्दों, जैसे—इंद्र, चंद्र आदि द्वारा।
- (iii) 2 को यम, अश्विन (युग्म), पक्ष (पक्षी के दो पंख) या कर (दो हाथ) आदि से।
- (iv) 3 को (त्रि) गुण (वि) जगत्, अग्नि, रमा आदि द्वारा।
- (v) 4 को वेद, समुद्र आदि से।
- (vi) 5 को भूतों (तत्त्वों), इन्द्रियों (स्पर्शेन्द्रियों) अथवा सार से व्यक्त किया जाता था।

बड़ी संख्याओं को लिखने का तरीका काफी कठिन था। इसलिए शब्दों को जोड़कर बड़ी संख्याओं को व्यक्त किया जाता था। इस प्रकार संख्या पदों को श्लोकों में बायें से दायें लिखा जाता था।

किंतु जिन संख्याओं को वे दर्शाते हैं उन्हें दायें से बायें लिखा जाता है। उदाहरण के तौर पर, 14,400 की संख्या को इस प्रकार लिखा जाता था :

ख-ख-वेद-समुद्र-सीतारसमय :

जब इन्हें संख्यात्मक रूप में दायें से बायें व्यक्त किया जाता है, तो यह 14400 पढ़ा जाएगा। उसी प्रकार के अन्य उदाहरणों को तालिका 3 में दिया गया है। (इस तालिका में 6, 7, 8 और 9 संख्याओं के लिए शब्द देखें।)

तालिका 3

| शब्द | संख्याएँ | |
|------|--------------------|-------|
| 1. | नव-वसु-गुण-रस रस : | 66389 |
| 2. | स्वर-यम-यम-द्वि | 2227 |
| 3. | शून्य-द्वि-पंच-यम | 2520 |
| 4. | वसु-वेद-यम-ख-धारा | |
| 5. | | 5379 |

5. खगोल विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियाँ : यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं है कि गुप्त काल में खगोल विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई थी, तथापि आविष्कारों और सिद्धांतों का ठीक-ठीक एवं क्रमवार निर्धारण करना मुश्किल है। इस बात का पता लगाना कठिन है कि इस क्षेत्र में भारत एवं ग्रीक के प्राचीन ग्रंथों का कितना प्रभाव पड़ा। ज्यादातर सूचनाओं का पता बाद के खगोल शास्त्रियों द्वारा रचित भाष्यों या व्याख्याओं से चलता है। ये लोग अपने ग्रंथों को प्राचीन ऋषियों के ग्रंथ बताते थे। इसका कारण यह था कि इनके ग्रंथों को समकालीन विद्वानों द्वारा मान्यता मिल जाए। इस संबंध में कितनी जानकारी प्राप्त थी, इसका पता लगाना इस वजह से और भी मुश्किल हो जाता है कि हमारे वैज्ञानिक कल्पनाओं को तथ्यों से जोड़ देते थे या फिर त्रुटिपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धांतों के साथ मिलाकर पेश करते थे (जैसे—राहु और केतु)। इसका कारण यह था कि वे समाज में मान्यता प्राप्त करना चाहते थे।

हम जानते हैं कि भारतीय खगोल विज्ञान का मूल वैदिक काल में था। इसका विवरण “सिद्धांत” नामक ग्रंथों में दिया गया है। उस काल के भारतीय खगोल या ज्योतिष विज्ञान में सूर्य, चंद्र तथा ग्रहों की स्थिति का ठीक-ठीक ब्यौरा रखा जाता था। किंतु यह कोई तर्कपूर्ण एवं विश्वसनीय सिद्धांत नहीं दे सका जिससे यह पता चलता कि ग्रह मंडल प्रणाली कैसे कार्य करती है।

आर्यभट्ट (476 ई.) गुप्त काल के महान् खगोलशास्त्री थे। उन्होंने ग्रह मंडल की गति के सिद्धांत को इस रूप में प्रस्तुत किया जो अधिक विश्वसनीय था तथा समस्याओं का समाधान कर सकता था। उन्होंने सूर्य, चंद्र तथा ग्रहों की गति का अध्ययन करके अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका यह पक्का विश्वास था कि पृथ्वी घूमती है और आकाश स्थिर है। उन्होंने ग्रहण लगने का वैज्ञानिक कारण बताया जो इस प्रचलित धारणा के बिल्कुल विपरीत था कि “राहु” और “केतु” के कारण ग्रहण लगता है।

त्रिकोणमितीय तालिकाएँ बनाने का श्रेय आर्यभट्ट को जाता है। उन्होंने त्रिकोणमितीय तालिकाओं को ज्यामितीय ढंग से परिकलित (compute) किया और ज्या (sine) तथा कोज्या (cosine) के मानों का प्रयोग अपनी खगोल वैज्ञानिक गणनाओं में किया। इसके अलावा उन्होंने गणितीय तथा ज्यामितीय श्रेणियों (series) के योग के लिए सूत्र बनाये और $\sum n^2$ तथा $\sum n^3$ जैसी श्रेणियों का योग निकाला।

आर्यभट्ट के बाद वराहमिहिर आये। उन्होंने अपने ग्रंथ ‘बृहत्संहिता’ में आर्यभट्ट एवं उनसे पहले के खगोल विज्ञान संबंधी निष्कर्षों को संकलित किया। वराहमिहिर के साथ समस्या यह थी कि उन्होंने ज्योतिष का स्तर बढ़ाकर उसे वैज्ञानिक खगोल-विज्ञान के स्तर पर लाने का प्रयास किया। यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि नियम बनाने वाले ब्राह्मणों ने उन पर ऐसा करने के लिए दबाव डाला। वराहमिहिर भी ब्राह्मण थे और राज-दरबार में कार्य करते थे। खगोल-विज्ञान पर अपना काम जारी रख सकने के लिए यह जरूरी था कि वे पुरोहितों और राजा का समर्थन प्राप्त करें। उनकी स्थिति शायद दयनीय थी और उन्हें विज्ञान की आवश्यकताओं और ऋषियों के आदेशों के साथ समझौता करना पड़ता था। कारण यह था कि ऋषियों के वचन सत्य एवं न टाले जा सकने वाले समझे जाते थे। अतः उन्होंने ज्योतिष को अपने खगोल विज्ञान संबंधी शोध प्रबंध के तीन प्रमुख घटकों में से एक के रूप में शामिल किया। जहाँ वे एक ओर अपनी जीविका चलाने के लिए राजाओं और राजकुमारों की जन्म कुंडलियाँ बनाते थे, वहीं दूसरी ओर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का प्रदर्शन करते थे।

उदाहरण के तौर पर, दो ग्रहणों के स्वरूप की चर्चा के बाद उस समय प्रचलित मत के अनुसार तथा अत्यंत वैज्ञानिक आधार पर उन्होंने उन लोगों के प्रति शिकायत की जो इस विषय में नहीं जानते थे। उन्होंने कहा कि आम आदमी हमेशा ही यह कहता आ रहा है कि ग्रहण का कारण राहु है। यदि राहु नहीं दिखाई देता और ग्रहण नहीं लगता तो उस समय ब्राह्मण लोग अनिवार्यतः स्नान नहीं करते।

एक ओर तो जहाँ लोगों को वराहमिहिर से सहानुभूति हो सकती है क्योंकि उन्हें बहुत ही तनाव व कुंठा झेलनी पड़ी, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने प्राकृतिक घटनाओं को परावैज्ञानिक और अवैज्ञानिक के मेल से व्यक्त करने की परिपाटी चलायी। इससे संभवतः आर्यभट्ट के बाद भारतीय खगोल विज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति रुक गयी। क्योंकि शताब्दी बीतने पर भी स्वयं खगोल शास्त्रियों को ही राहु-केतु के सिद्धांत से ग्रहण की स्थिति को स्पष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं होती थी। ब्रह्मगुप्त ने (जन्म 598 ई.), जो एक महान् वैज्ञानिक थे, अपने ब्रह्मस्फुट सिद्धांत में घोषणा की कि “कुछ लोग सोचते हैं कि ग्रहण का कारण राहु नहीं है। किंतु यह एक गलत धारणा है क्योंकि वस्तुतः यह राहु ही है जो ग्रहण लगाता है। वेद जो कि ब्रह्मा के मुख से निकले भगवान के ही शब्द हैं, यही बताते हैं।” इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने यह कथन इस बात की पूरी जानकारी के साथ दिया था कि ये आर्यभट्ट, वराहमिहिर तथा श्रीसेन के वैज्ञानिक सिद्धांतों के विरुद्ध जा रहे थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यदि राहु आदि काल्पनिक माने जाते हैं, जैसा कि आर्यभट्ट और वराहमिहिर ने किया था तो उन्हें स्वर्गिक सुखों से वंचित होना पड़ेगा और यह सामान्यतः स्वीकृत धार्मिक सिद्धांत के बाहर हो जाएगा और इसकी कतई अनुमति नहीं है।

हम पाते हैं कि विज्ञान तथा अ-विज्ञान की यह मिलावट जो भारतीय खगोल शास्त्रियों ने आर्यभट्ट के बाद शुरू की, उसके फलस्वरूप भारतीय खगोल विज्ञान के सामने मानो चुनौती नहीं रही। खगोल विज्ञान के स्थान पर ज्योतिष-शास्त्र बनी होने लगा। जो दुनिया में सबसे शक्तिशाली वैज्ञानिक विचारधारा थी, वह राजनीति एवं धर्मान्धता का शिकार बन गयी। जब हम आर्यभट्ट के सुझाव कि पृथ्वी घूमती है और ग्रह स्थिर है, पर विचार करते हैं तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट जाती है। अथर्ववेद ने कर्मकांडों का सहारा लेकर कहा कि पृथ्वी स्थिर थी और जो इस कथन के विरुद्ध गया वह विधर्मी था। आधुनिक ऐतिहासिक अनुसंधान से यह जाहिर होता है कि सभी खगोलशास्त्रियों ने या तो आर्यभट्ट के उपर्युक्त कथन को एकदम नजरअंदाज कर दिया या फिर इसका जानबूझकर गलत अर्थ निकाला। वे अपने ब्राह्मण आचार्यों को यह दिखाना चाहते थे कि वे सच्चे हिंदू हैं जो वेदों में पूर्ण विश्वास करते हैं तथा विश्व को भूकेंद्रिक (geocentric) मानते हैं। कुछ मतों के अनुसार तो यहाँ तक संभावना है कि सूर्यकेंद्रीय परिकल्पना को मिटा देने के लिए पाण्डुलिपियों में भी जानबूझकर रद्दोबदल किया गया है।

6. चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियाँ : प्राचीन काल से ही मानव अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग रहा है। अपना स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त फल, फूल, पत्तों, पौधों तथा वृक्षों की जड़ों से अपना उपचार करता था। मानव धार्मिक होने के नाते यह विश्वास करता था कि ईश्वर ने अगर रोग दिए हैं तो उनके उपचार के लिए औषधियाँ भी इसी धरती पर अवश्य प्रदान की हैं। अतः मानव प्रत्येक बीमारी के लिए प्रकृति से औषधियाँ ढूँढ़ कर अपना उपचार करने लगा। मानव ने अपने अनुभवों तथा सिद्धांतों के संकलन से ऐसे ग्रंथों का निर्माण किया जो मानव के स्वास्थ्य के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुए। वेद तथा शास्त्रों में भी बहुत सारे रोग तथा उनके उपचार के वर्णन हैं। प्राचीन चिकित्सा संहिता 'आयुर्वेद' भी ऐसा ही एक प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें स्वास्थ्य सम्बन्धी सिद्धांतों की जानकारी दी गई है।

प्राचीन काल में अनुभव युक्त चिकित्सक स्वयं ही दवा बनाते, शल्य क्रिया करते और रोगों का परीक्षण करते थे। ऐसे ही चिकित्सक तथा आयुर्विज्ञान ज्ञानी महर्षि चरक तथा सुश्रुत हुए हैं। महर्षि चरक ने आयुर्वेद चिकित्सा के क्षेत्र में शरीर विज्ञान, निदान शास्त्र और भ्रूण विज्ञान पर "चरक संहिता" नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने तक्षशिला विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की थी। वह प्रथम शताब्दी के कुषाण सम्राट कनिष्क के दरबारी वैद्य थे।

चरक के अनुसार चिकित्सक को सबसे पहले उन सब कारणों का अध्ययन करना चाहिए जो रोगी को प्रभावित करते हैं, फिर उसका इलाज करना चाहिए। उनके अनुसार शरीर में पित्त, कफ और वात के कारण दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यह दोष तब उत्पन्न होते हैं जब रक्त मांस और मज्जा खाए हुए भोजन पर प्रतिक्रिया करता है। चरक ने यह भी स्पष्ट किया है कि समान मात्रा में खाया गया भोजन अलग-अलग शरीरों में भिन्न दोष पैदा करता है अर्थात् एक शरीर दूसरे शरीर से भिन्न होता है। उनका कहना था कि बीमारी तब उत्पन्न होती है जब शरीर के तीनों दोष असंतुलित हो जाते हैं। इनके संतुलन के लिए इन्होंने कई दवाइयाँ बनायीं।

महर्षि चरक ने अपनी चरक संहिता में विभिन्न विषयों का बृहद् विवेचन किया है। उदाहरण—स्वरूप, भ्रूण की उत्पत्ति एवं विकास, मानव-शरीर का शरीर-रचना विज्ञान, शरीर की कार्यविधि तथा शरीर के तीन पदार्थ—वायु, पित्त, कफ के असंतुलन अथवा अन्य किसी कारण से शरीर की कार्यविधि में अव्यवस्था, विभिन्न रोगों का निदान, वर्गीकरण, विज्ञान निरूपण, पूर्वानुमान तथा उपचार एवं शरीर के कायाकल्प विज्ञान जैसे विषयों का वर्णन किया है।

शरीर क्रिया के बारे में चरक संहिता से ज्ञात होता है कि जो भोजन हम खाते हैं तथा हमारा शरीर, दोनों मिट्टी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश नामक पाँच पंचतत्वों (भूत) से बने होते हैं। शरीर में ये पंचतत्व रस, रक्त, माँस, वसा, अस्थि मज्जा तथा वीर्य नामक वस्तुओं (धातुओं) के रूप में होते हैं। भोजन का कार्य इन धातुओं का पोषण करना, इनके संतुलन को बनाए रखना तथा पाचन-क्रिया को जारी रखना है। जो भोजन खाया जाता है वह पहले एक रस में परिवर्तित होता है, तत्पश्चात् रक्त, मांस तथा अन्य धातुओं में।

दूसरे महान आयुर्वैज्ञानिक महर्षि सुश्रुत थे जो अपने समय के बहुत बड़े शल्य चिकित्सक थे। सुश्रुत को शल्य चिकित्सा (सर्जरी) का पितामह कहा जाता है। इन्होंने अपने ज्ञान तथा अनुभवों के आधार पर शल्य चिकित्सा पर एक ग्रन्थ

‘सुश्रुत संहिता’ की रचना की। सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ में शल्य चिकित्सा के विभिन्न पहलुओं को विस्तार से समझाया है। शल्य क्रिया के लिए सुश्रुत 125 तरह के उपकरणों का प्रयोग करते थे। ये उपकरण शल्य क्रिया की जटिलता को देखते हुए खोजे गए थे। इन उपकरणों में विशेष प्रकार के चाकू, सुइयाँ, चिमटियाँ आदि हैं। सुश्रुत ने 300 प्रकार की शल्य क्रिया अर्थात् ऑपरेशन प्रक्रियाओं की खोज की।

सुश्रुत नेत्र शल्य चिकित्सा भी करते थे। सुश्रुत संहिता में मोतियाबिंद का ऑपरेशन करने की विधि को विस्तार से बताया है। उन्हें शल्य क्रिया द्वारा प्रसव कराने का भी ज्ञान था। सुश्रुत को दूटी हुई हड्डी का पता लगाने और उनको जोड़ने में विशेषज्ञता प्राप्त थी। शल्य क्रिया के दौरान होने वाले दर्द को कम करने के लिए वे मद्यपान या विशेष औषधियाँ देते थे। सुश्रुत शल्य चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद के अन्य पक्षों, जैसे—शरीर संरचना, काय-चिकित्सा, बाल रोग, स्त्री रोग, मनोरोग आदि की जानकारी भी देते थे। इसके अतिरिक्त सुश्रुत को मधुमेह व मोटापे के रोग की भी विशेष जानकारी थी।

सुश्रुत प्लास्टिक सर्जरी विशेषज्ञ थे। भारत में सुश्रुत को प्लास्टिक सर्जन माना जाता है। इस विधि के अंतर्गत सुश्रुत ने शरीर के एक अंग से मांस निकालकर दूसरे स्थान पर स्थापित करने के प्रचलन को और अधिक प्रभावी बनाया। उन्होंने चेहरे आदि पर विकृतियों को दूर करने, कटी नाक के स्थान पर नई नाक स्थापित करने की विधियाँ विकसित की थी। इसके लिए उन्होंने ललाट से त्वचा लेना आरम्भ किया था। वो किसी एक स्थान से त्वचा लेकर दूसरे स्थान पर लगा देते थे।

7. परिवहन के क्षेत्र में उपलब्धियाँ : भारतीय इतिहास में सिन्धु घाटी सभ्यता के काल से ही परिवहन का बहुत बड़ा महत्व रहा है। इमारतों को बनाने के लिए पत्थर तथा लकड़ी का लाना और ले जाना, कृषि द्वारा उत्पन्न खाद्यान्न की आपूर्ति, व्यापार तथा आयात-निर्यात, इत्यादि परिवहन के विकास द्वारा ही संभव थे। मानव की वैज्ञानिक सोचों तथा प्रौद्योगिकी से परिवहन का खूब विकास हुआ तथा मानव सभ्यता का अभिन्न हिस्सा बन गया।

सिन्धु घाटी सभ्यता काल में परिवहन व्यवस्था अति उन्नत अवस्था में थी। जल परिवहन द्वारा समुद्री मार्ग से उस समय मैसेपोटामिया के लोग बहरीन के रास्ते भारत के साथ व्यापार करते थे। तांबे का निर्यात विदेशों में होता था। भारतीय व्यापारी तांबे के अतिरिक्त मोर, बन्दर, हाथी दांत और उनसे बनी कंधियाँ, मोती और कपड़े आदि का निर्यात करते थे। उस काल में नदियों के पानी के बहाव का भी जल परिवहन के लिए उपयोग किया जाता था। इस बात के पक्के प्रमाण हैं कि जल परिवहन में सबसे पहले नदियों का प्रयोग आरम्भ हुआ और जब नदी परिवहन का विस्तार समुद्र तक हुआ तो जहाजरानी और नौकाओं को बनाने का कार्य भी आरम्भ हुआ। मजबूत कपड़े द्वारा बने पाल तथा भारी ढाँचे द्वारा तेज हवा में समुद्री नौसंचालन काफी आसान हो गया।

उस समय की समुद्री नौकाएं समुद्र तट के किनारे-किनारे ही यात्रा करती थीं। अगर नाविक की दृष्टि से भूमि ओझल हो जाती तो वे एक कौवा उड़ाते थे जो सबसे निकट वाले समुद्री तट की ओर उड़ता था। इस तरह उसकी उड़ान की दिशा से समुद्री किनारे का पता चल जाता था। उस समय सूर्य और तारों द्वारा दिशा को मालूम किया जाता था।

प्राचीन काल में नगरों के विकास के लिए भूमि परिवहन का भी विकास हुआ। सबसे पहले गाड़ियाँ बनाने का श्रेय कांस्य युगीन लोगों को जाता है। इन गाड़ियों का प्रयोग सामान तथा यात्री ढोने के लिए किया जाता था। यह गाड़ियाँ प्रायः बैलों द्वारा खींची जाती थीं। निश्चय ही इनका संचालन तथा प्रयोग उस काल की वैज्ञानिक सोच, यांत्रिकी तथा प्रौद्योगिकी का अद्भुत नमूना था।

8. धातु विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्धियाँ : भारतीय समाज के नगरीकरण के साथ-साथ धातुओं और मिश्रित धातु कांसे का प्रयोग काफी बढ़ गया। इसी समय में विभिन्न समाजों के बीच व्यापार, परिवहन तथा बौद्धिक आदान-प्रदान से वैज्ञानिक चेतना का विकास भी हुआ। इस तरह के सामाजिक विकास में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का बहुत बड़ा हाथ था तथा धातुओं के प्रयोग ने समाज के चौतरफा विकास में क्रान्ति लाने का कार्य किया।

मानव ने सबसे पहले प्रकृति से सोने और तांबे की खोज की और उनका अपने दैनिक जीवन में आभूषणों के रूप में प्रयोग किया। बाद में रांगे की खोज की गई जिसे तांबे में मिलाकर एक मजबूत धातु कांसा बनाया गया। इसे आसानी

से बर्तनों, हथियारों, औजारों व अन्य उपकरणों में ढाला जा सकता था। इस नयी धातु के प्रयोग से विकास के संसाधनों, जैसे—कृषि, बढ़ईगीरी, राजगीरी, नाई, सुरक्षा, शिकार, युद्ध, इत्यादि क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। इस धातु ने मानव जीवन को न सिर्फ बदल कर रख दिया बल्कि इस धातु का दूर-दराज के देशों में व्यापार के द्वारा निर्यात भी किया जाने लगा।

कांसे के अतिरिक्त एक अन्य धातु लोहे की भी प्राचीन काल में आर्यों के आगमन के बाद खोज की गई। लोहे के प्रयोग ने समाज में एक नई सभ्यता का सूत्रपात किया जिसने मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया।

गुप्त काल के पतन के पश्चात् 750 ई. से लेकर 1200 ई. तक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उपलब्धियों की गति कुछ धीमी रही, किंतु सामान्य रूप से पतन की इस अवस्था में लोगों द्वारा कुछ अच्छे प्रयत्न भी किये गये। आर्यभट्ट-II (लगभग 950 ई.) ने खगोल एवं गणित-शास्त्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। भास्कर-II (1114 ई.) ने अपना प्रसिद्ध गणित-शास्त्र एवं खगोल विज्ञान संबंधी ग्रंथ “सिद्धांत-शिरोमणि” लिखा जो चार खंडों में हैं। उन खंडों के नाम लीलावती, बीजगणित, गणिताध्याय तथा गोलाध्याय हैं।

□ आर्यभट्ट, बराहमिहिर एवं भास्कर-प्रथम के विशेष संलग्न में खगोलविज्ञान के विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर :

खगोल विज्ञान का विकास

खगोल विज्ञान, विज्ञान की एक शाखा है, जिसमें पृथ्वी एवं उसके वायुमंडल के बाहर अंतरिक्ष में होने वाली घटनाओं का निरीक्षण, विवेचन, विश्लेषण एवं प्राप्त परिणामों की व्याख्या की जाती है। खगोल विज्ञान आज एक बहुत समृद्ध विज्ञान है। 20वीं और 21वीं शताब्दी के मध्य मनुष्य अपने खगोल-विज्ञान की उन्नति के चलते चांद एवं मंगल ग्रह तक पहुंच गया है और आने वाले समय में उसकी योजना अन्य ग्रहों तक पहुंचने की है, जो उसके प्रयासों के कारण असंभव नहीं लगती। वास्तव में खगोल विज्ञान का विकास भारत में ही हुआ है।

प्रसिद्ध जर्मन खगोल विज्ञानी कॉपरनिकस से लगभग 1000 वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने पृथ्वी की गोल आकृति और इसके अपनी धुरी पर घूमने की पुष्टि कर दी थी। इसी तरह आइजैक न्यूटन से 1000 वर्ष पूर्व ही ब्रह्मगुप्त ने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत की पुष्टि कर दी थी। यह एक अलग बात है कि किन्हीं कारणों से इनका श्रेय पाश्चात्य वैज्ञानिकों को मिला।

भारतीय खगोल विज्ञान का उद्भव वेदों से माना जाता है। वैदिककालीन भारतीय धर्मप्राण व्यक्ति थे। वे अपने यज्ञ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान ग्रहों की स्थिति के अनुसार शुभ लग्न देखकर किया करते थे। शुभ लग्न जानने के लिए उन्होंने खगोल विज्ञान का विकास किया था। वैदिक आर्य सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गति से परिचित थे। वैदिककालीन खगोल विज्ञान का एक मात्र ग्रंथ 'वेदांग ज्योतिष' है। इसकी रचना लगभग ऋषि ने ईसा से लगभग 100 वर्ष पूर्व की थी।

महाभारत में भी खगोल विज्ञान से संबंधित जानकारी मिलती है। महाभारत में चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण की चर्चा है। इस काल के लोगों को ज्ञात था कि ग्रहण केवल अमावस्या और पूर्णिमा को ही लग सकते हैं। इस काल के लोगों को ग्रहों के विषय में भी अच्छा ज्ञान था। 'वेदांग ज्योतिष' के बाद लगभग एक हजार वर्षों तक खगोल विज्ञान का कोई ग्रंथ नहीं मिलता।

पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम लोगों को बताया कि पृथ्वी गोल है और यह अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है। उन्होंने पृथ्वी के आकार, गति और परिधि का अनुमान भी लगाया था। आर्यभट्ट ने सूर्य और चंद्र ग्रहण के सही कारणों का पता लगाया। उनके अनुसार चंद्रमा और पृथ्वी की परछाई पड़ने से ग्रहण लगता है। चंद्रमा में अपना प्रकाश नहीं है, वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। इसी प्रकार आर्यभट्ट ने राहु-केतु द्वारा सूर्य और चंद्र को ग्रस लेने के सिद्धांत का खंडन किया और ग्रहण का सही वैज्ञानिक सिद्धांत प्रतिपादित किया। आर्यभट्ट ने 'आर्यभटीय' तथा 'आर्य सिद्धांत' नामक ग्रंथों की रचना की थी।

आर्यभट्ट के बाद छठी शताब्दी में वराहमिहिर नाम के खगोल वैज्ञानिक हुए। विज्ञान के इतिहास में वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा कि कोई ऐसी शक्ति है जो वस्तुओं को धरातल से बाँधे रखती है। आज इसी शक्ति को गुरुत्वाकर्षण कहते हैं। वराहमिहिर का कहना था कि पृथ्वी गोल है, जिसके धरातल पर पहाड़, नदियाँ, पेड़-पौधे, नगर आदि फैले हुए हैं। 'पंचसिद्धांतिका' और 'सूर्य सिद्धांत' उनकी खगोल विज्ञान संबंधी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त वराहमिहिर ने 'वृहत्संहिता' और 'वृहज्जातक' नाम की पुस्तकें भी लिखी हैं।

इसके बाद भारतीय खगोल विज्ञान में ब्रह्मगुप्त का भी काफी महत्वपूर्ण योगदान है। इनका कार्यकाल सातवीं शताब्दी से माना जाता है। वे खगोल विज्ञान संबंधी गणनाओं में बीजगणित का प्रयोग करने वाले संभवतः भारत के सबसे पहले महान गणितज्ञ थे। 'ब्रह्मगुप्त सिद्धांत' इनका प्रमुख ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त जीवन के अंतिम वर्षों में ब्रह्मगुप्त ने 'खंड खाद्यक' नामक ग्रंथ भी लिखा था। इन्होंने विभिन्न ग्रहों की गति और स्थिति, उनके उदय और अस्त, युति तथा सूर्य ग्रहण की गणना करने की विधियों का वर्णन किया है। ब्रह्मगुप्त का ग्रहों का ज्ञान प्रत्यक्ष वेध (अवलोकन) पर आधारित था। इनका मानना था कि जब कभी गणना और वेध में अंतर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिए। ये पृथ्वी को गोल मानते थे तथा पुराणों में पृथ्वी को चपटी मानने के विचार की इन्होंने कड़ी आलोचना की है। ब्रह्मगुप्त आर्यभट्ट के अनेक सिद्धांतों के साथ पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के सिद्धांत के भी आलोचक थे। ब्रह्मगुप्त पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के सिद्धांत से सहमत थे। उनके अनुसार, 'वस्तुएँ पृथ्वी की ओर गिरती हैं क्योंकि पृथ्वी की प्रकृति है कि वह उन्हें अपनी ओर आकर्षित करे।'

ब्रह्मगुप्त के बाद खगोल विज्ञान में भास्कराचार्य का विशिष्ट योगदान है। इनका समय बारहवीं शताब्दी था। वे गणित के प्रकांड पंडित थे। इन्होंने 'सिद्धांत शिरोमणि' और 'करण कुतुहल' नामक दो ग्रंथों की रचना की थी। खगोलविद् के रूप में भास्कराचार्य अपनी 'तात्कालिक गति' की अवधारणा के लिए प्रसिद्ध हैं। इससे खगोल वैज्ञानिकों को ग्रहों की गति का सही ज्ञान प्राप्त करने में मदद मिलती है।

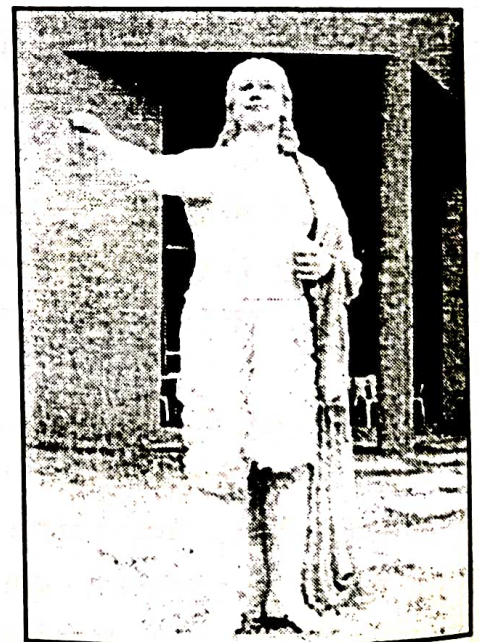
भास्कर ने एक तो गोले की सतह और उसके घनफल को निकालने के जर्मन ज्योतिर्विद केपलर के नियम का पूर्वाभ्यास कर लिया था। दूसरे, उन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में जन्मे आइज़ैक न्यूटन से लगभग 500 वर्ष पूर्व गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया था।

(क) खगोल विज्ञान के क्षेत्र में आर्यभट्ट का योगदान

आर्यभट्ट (476-550 ई.) प्राचीन भारत के एक महान ज्योतिषविद् और गणितज्ञ थे। इन्होंने 'आर्यभटीय' ग्रंथ की रचना की जिसमें ज्योतिषशास्त्र के अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन है। इसी ग्रंथ में इन्होंने अपना जन्मस्थान कुसुमपुर और जन्मकाल शक संवत् 398 लिखा है। बिहार में वर्तमान पटना का प्राचीन नाम कुसुमपुर था, लेकिन आर्यभट्ट का कुसुमपुर दक्षिण में था, यह अब लगभग सिद्ध हो चुका है।

एक अन्य मान्यता के अनुसार उनका जन्म महाराष्ट्र के अश्मक देश में हुआ था। उनके वैज्ञानिक कार्यों का समादर राजधानी में ही हो सकता था। अतः उन्होंने लम्बी यात्रा करके आधुनिक पटना के समीप कुसुमपुर में अवस्थित होकर राजसान्निध्य में अपनी रचनाएँ पूर्ण की। इनकी उत्पत्ति भट्ट ब्रह्मभट्ट ब्राह्मण समुदाय में मानी जाती है।

यद्यपि आर्यभट्ट के जन्म के वर्ष का आर्यभटीय में स्पष्ट उल्लेख है, पर उनके जन्म के वास्तविक स्थान के बारे में विवाद है। कुछ मानते हैं कि वे नर्मदा और गोदावरी के मध्य स्थित क्षेत्र में पैदा हुए थे, जिसे अश्मक के रूप में जाना जाता



चित्र : पुणे में आर्यभट्ट की मूर्ति (476-550 ई.)

था और वे अश्माका की पहचान मध्य भारत से करते हैं जिसमें महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश शामिल हैं। हालाँकि आरंभिक बौद्ध ग्रन्थ अश्माका को दक्षिण में, दक्षिणापथ या दक्खन के रूप में वर्णित करते हैं, जबकि अन्य ग्रन्थ वर्णित करते हैं कि अश्माका के लोग अलेक्जेंडर से लड़े होंगे, इस हिसाब से अश्माका को उत्तर की तरफ और आगे होना चाहिए।

एक ताजा अध्ययन के अनुसार आर्यभट्ट केरल के चाम्रवत्तम (10 उत्तर 51, 75 पूर्व 45) के निवासी थे। अध्ययन के अनुसार अस्मका एक जैन प्रदेश था जो कि श्रवणबेलगोल के चारों तरफ फैला हुआ था और यहाँ के पत्थर के खम्बों के कारण इसका नाम अस्मका पड़ा। चाम्रवत्तम इस जैन बस्ती का हिस्सा था, इसका प्रमाण है भारतापुञ्जा नदी जिसका नाम जैनों के पौराणिक राजा भारता के नाम पर रखा गया है। आर्यभट्ट ने भी युगों को परिभाषित करते वक्त राजा भारता का जिक्र किया है—दशगीतिका के पांचवें छंद में राजा भारत के समय तक बीत चुके काल का वर्णन आता है। उन दिनों में कुसुमपुर में एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था जहाँ जैनों का निर्णायक प्रभाव था और आर्यभट्ट का काम इस प्रकार कुसुमपुरा पहुँच सका और उसे पसंद भी किया गया।

हालाँकि यह बात काफी हद तक निश्चित है कि वे किसी न किसी समय कुसुमपुरा उच्च शिक्षा में लिए गए थे और कुछ समय के लिए वहाँ रहे भी थे। भास्कर-I (629 ई.) ने कुसुमपुरा की पहचान पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) के रूप में की है। गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों में वे वहाँ रहा करते थे। यह वह समय था जिसे भारत के स्वर्णिम युग के रूप में जाना जाता है। विष्णुगुप्त के पूर्व बुद्धगुप्त और कुछ छोटे राजाओं के साम्राज्य के दौरान उत्तर पूर्व में हूणों का आक्रमण शुरू हो चुका था।

आर्यभट्ट अपनी खगोलीय प्रणालियों के लिए सन्दर्भ के रूप में श्रीलंका का उपयोग करते थे। उन्होंने आर्यभटीय में अनेक अवसरों पर श्रीलंका का उल्लेख किया है।

आर्यभट्ट की कृतियाँ : आर्यभट्ट द्वारा रचित तीन ग्रंथों की जानकारी आज भी उपलब्ध है—दशगीतिका, आर्यभटीय और तंत्र। लेकिन जानकारी के अनुसार उन्होंने और एक ग्रंथ लिखा था—आर्यभट्ट सिद्धांत। इस समय उसके केवल 34 श्लोक ही उपलब्ध हैं। उनके इस ग्रंथ का सातवें शतक में व्यापक उपयोग होता था। लेकिन इतना उपयोगी ग्रंथ लुप्त कैसे हो गया, इस विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती।

उन्होंने 'आर्यभटीय' नामक महत्वपूर्ण ज्योतिष ग्रंथ लिखा, जिसमें वर्गमूल, घनमूल, समान्तर श्रेणी तथा विभिन्न प्रकार के समीकरणों का वर्णन है। उन्होंने अपने आर्यभटीय नामक ग्रन्थ में कुल 3 पृष्ठों के समा सकने वाले 33 श्लोकों में गणितविषयक सिद्धांत तथा 5 पृष्ठों में 75 श्लोकों में खगोल-विज्ञान विषयक सिद्धान्त तथा इसके लिये यंत्रों का भी निरूपण किया। आर्यभट्ट ने अपने इस छोटे से ग्रंथ में अपने से पूर्ववर्ती तथा पश्चाद्वर्ती देश के तथा विदेश के सिद्धांतों के लिये भी क्रान्तिकारी अवधारणाएँ उपस्थित कीं। उनकी प्रमुख कृति, आर्यभटीय, गणित और खगोल विज्ञान का एक संग्रह है, जिसे भारतीय गणितीय साहित्य में बड़े पैमाने पर उद्धृत किया गया है और जो आधुनिक समय में भी अस्तित्व में है। आर्यभटीय के गणितीय भाग में अंकगणित, बीजगणित, सरल त्रिकोणमिति और गोलीय त्रिकोणमिति शामिल हैं। इसमें सतत भिन्न (कंटीन्यूड फ्रेक्शन्स), द्विघात समीकरण (क्वाड्रेटिक इक्वेशंस), घात श्रृंखला के योग (सम्स ऑफ पावर सीरीज) और ज्याओं की एक तालिका (Table of Sines) शामिल है। आर्य-सिद्धांत खगोलीय गणनाओं पर एक कार्य है जो अब लुप्त हो चुका है। इसकी जानकारी हमें आर्यभट्ट के समकालीन वराहमिहिर के लेखनों में प्राप्त होती है, साथ-ही-साथ बाद के गणितज्ञों और टिप्पणीकारों के द्वारा भी इसकी जानकारी मिलती है जिनमें शामिल हैं ब्रह्मगुप्त और भास्कर। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कार्य पुराने सूर्य सिद्धांत पर आधारित हैं और आर्यभटीय के सूर्योदय की अपेक्षा इसमें मध्यरात्रि-दिवस-गणना का उपयोग किया गया है। इसमें अनेक खगोलीय उपकरणों का वर्णन शामिल है, जैसे कि नोमोना (शंकु-यंत्र), एक परछाई यंत्र (छाया-यंत्र), संभवतः कोण मापी उपकरण, अर्धवृत्ताकार और वृत्ताकार (धनुर-यंत्र/चक्र-यंत्र, एक बेलनाकार छड़ी, यस्ती-यंत्र, एक छत्र-आकार का उपकरण जिसे छत्र-यंत्र कहा गया है और कम-से-कम दो प्रकार की जल घड़ियाँ—धनुषाकार और बेलनाकार।

एक तीसरा ग्रन्थ जो अरबी अनुवाद के रूप में अस्तित्व में है, 'अल न्फ' या 'अल नन्फ' है, जो आर्यभट्ट के एक

अनुवाद के रूप में दावा प्रस्तुत करता है, परन्तु इसका संस्कृत नाम अज्ञात है। संभवतः 9वीं सदी के अभिलेखन में, यह फारसी विद्वान और भारतीय इतिहासकार अबु रेहान अल-बिरूनी द्वारा उल्लेखित किया गया है।

आर्यभट्ट के कार्य के प्रत्यक्ष विवरण सिर्फ आर्यभटीय में ही ज्ञात हैं। आर्यभटीय नाम बाद के टिप्पणीकारों द्वारा दिया गया है, आर्यभट्ट ने स्वयं इसे नाम नहीं दिया होगा; यह उल्लेख उनके शिष्य भास्कर प्रथम ने अश्मकतंत्र या अश्माका के लेखों में किया है। इसे कभी कभी आर्य-शतअष्ट (अर्थात् आर्यभट्ट के 208) जो कि उनके पाठ में छंदों की संख्या है, के नाम से भी जाना जाता है। यह सूत्र साहित्य के समान बहुत ही संक्षिप्त शैली में लिखा गया है, जहाँ प्रत्येक पंक्ति एक जटिल प्रणाली को याद करने के लिए सहायता करती है। इस प्रकार, अर्थ की व्याख्या टिप्पणीकारों की वजह से है। समूचे ग्रंथ में 208 हैं, साथ ही परिचयात्मक 13 छंद अतिरिक्त हैं। इस पूरे ग्रंथ को चार पदों अथवा अध्यायों में विभाजित किया गया है।

1. गीतिकापाद (13 छंद) : समय की बड़ी इकाइयाँ—कल्प, मन्वन्तर, युग, जो प्रारंभिक ग्रंथों से अलग एक ब्रह्माण्ड विज्ञान प्रस्तुत करते हैं, जैसे कि लगध का वेदांग ज्योतिष, (पहली सदी ईसावी पूर्व)। इनमें जीवाओं (साइन) की तालिका ज्या भी शामिल है जो एक एकल छंद में प्रस्तुत है। एक महायुग के दौरान, ग्रहों के परिभ्रमण के लिए 4.32 मिलियन वर्षों की संख्या दी गयी है।
2. गणितपाद (33 छंद) : इसमें क्षेत्रमिति (क्षेत्र व्यवहार), गणित और ज्यामितिक प्रगति, शंकु/छायाएँ (शंकु-छाया), सरल, द्विघात, युगपत और अनिश्चित समीकरण (कुट्टक) का समावेश है।
3. कालक्रियापाद (25 छंद) : समय की विभिन्न इकाइयाँ और किसी दिए गए दिन के लिए ग्रहों की स्थिति का निर्धारण करने की विधि। अधिक मास की गणना के विषय में (अधिकमास), क्षय-तिथियाँ सप्ताह के दिनों के नामों के साथ, सात दिन का सप्ताह प्रस्तुत करते हैं।
4. गोलपाद (50 छंद) : आकाशीय क्षेत्र के ज्यामितिक/त्रिकोणमितीय पहलू, क्रांतिवृत्त, आकाशीय भूमध्य रेखा, आदि आसंघि, पृथ्वी के आकार, दिन और रात के कारण, क्षितिज पर राशिचक्रीय संकेतों का बढ़ना आदि की विशेषताएं।

आर्यभट्ट ने गणित और खगोल विज्ञान में पद्य रूप में कुछ नवीनताएं प्रस्तुत की, जो अनेक सदियों तक प्रभावशाली रही। ग्रंथ की संक्षिप्तता की चरम सीमा का वर्णन उनके शिष्य भास्कर प्रथम (भाष्य, 600 और) द्वारा अपनी समीक्षाओं में और नीलकंठ सोमयाजी द्वारा अपने आर्यभटीय भाष्य (1465) में किया गया है।

आर्यभट्ट का योगदान : भारत के इतिहास में जिसे 'गुप्तकाल' या 'स्वर्णयुग' के नाम से जाना जाता है, उस समय भारत ने साहित्य, कला और विज्ञान क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति की। उस समय मगध स्थित नालन्दा विश्वविद्यालय ज्ञानदान का प्रमुख और प्रसिद्ध केंद्र था। देश-विदेश से विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए यहाँ आते थे। वहाँ खगोलशास्त्र के अध्ययन के लिए एक विशेष विभाग था। एक प्राचीन श्लोक के अनुसार आर्यभट्ट नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति भी थे।

आर्यभट्ट का भारत और विश्व के ज्योतिष सिद्धान्त पर बहुत प्रभाव रहा है। भारत में सबसे अधिक प्रभाव केरल प्रदेश की ज्योतिष परम्परा का रहा। आर्यभट्ट भारतीय गणितज्ञों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होंने 120 आर्याछंदों में ज्योतिष शास्त्र के सिद्धांत और उससे संबंधित गणित को सूत्ररूप में अपने आर्यभटीय ग्रंथ में लिखा है।

उन्होंने एक ओर गणित में पूर्ववर्ती आर्किमिडीज से भी अधिक सही तथा सुनिश्चित पाई के मान को निरूपित किया तो दूसरी ओर खगोलविज्ञान में सबसे पहली बार उदाहरण के साथ यह घोषित किया कि स्वयं पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है।

आर्यभट्ट ने ज्योतिषशास्त्र के आजकल के उन्नत साधनों के बिना जो खोज की थी, यह उनकी महत्ता है। कोपरनिकस (1473 से 1543 ई.) ने जो खोज की थी उसकी खोज आर्यभट्ट हजार वर्ष पहले कर चुके थे। "गोलपाद" में आर्यभट्ट ने लिखा है "नाव में बैठा हुआ मनुष्य जब प्रवाह के साथ आगे बढ़ता है, तब वह समझता है कि अचर वृक्ष, पाषाण, पर्वत आदि पदार्थ उल्टी गति से जा रहे हैं। उसी प्रकार गतिमान पृथ्वी पर से स्थिर जन्तु भी उल्टी गति से जाते हैं।"

हुए दिखाई देते हैं।" इस प्रकार आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। इन्होंने सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग को समान माना है। इनके अनुसार एक कल्प में 14 मन्वन्तर और एक मन्वन्तर में 72 महायुग (चतुर्युग) तथा एक चतुर्युग में सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग को समान माना गया है।

आर्यभट्ट के अनुसार किसी वृत्त की परिधि और व्यास का संबंध 62,832 : 20,000 आता है जो चार दशमलव स्थान तक शुद्ध है। आर्यभट्ट ने बड़ी-बड़ी संख्याओं को अक्षरों के समूह से निरूपित करने की अत्यंत वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया है।

गणित के क्षेत्र में योगदान :

- (i) **स्थानीय मान प्रणाली और शून्य :** स्थान-मूल्य अंक प्रणाली, जिसे सर्वप्रथम तीसरी सदी की बख्शाली पाण्डुलिपि में देखा गया, उनके कार्यों में स्पष्ट रूप से विद्यमान थी। उन्होंने निश्चित रूप से प्रतीक का उपयोग नहीं किया, परन्तु फ्रांसीसी गणितज्ञ जार्ज इफ्रह के मतानुसार— रिक्त गुणांक के साथ, दस की घात के लिए एक स्थान धारक के रूप में शून्य का ज्ञान आर्यभट्ट के स्थान-मूल्य अंक प्रणाली में निहित था। हालांकि, आर्यभट्ट ने ब्राह्मी अंकों का प्रयोग नहीं किया था; वैदिक काल से चली आ रही संस्कृत परंपरा को निरंतर रखते हुए उन्होंने संख्या को निरूपित करने के लिए वर्णमाला के अक्षरों का उपयोग किया, मात्राओं (जैसे—ज्याओं की तालिका) को स्मरक के रूप में व्यक्त किया।
- (ii) **अपरिमेय (इर्रेशनल) के रूप में π :** आर्यभट्ट ने पाई (π) के सन्निकटन पर कार्य किया और संभवतः उन्हें इस बात का ज्ञान हो गया था कि पाई इर्रेशनल है। आर्यभटीयम् (गणितपाद) के दूसरे भाग में वे लिखते हैं :

चतुराधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम् ।

अयुतद्वयस्य विष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः ॥

100 में चार जोड़ें, आठ से गुणा करें और फिर 62000 जोड़ें। इस नियम से 20000 परिधि के एक वृत्त का व्यास ज्ञात किया जा सकता है।

$$(100 + 4) \times 8 + 62000/20000 = 3.1416$$

इसके अनुसार व्यास और परिधि का अनुपात $\{(4 + 100) \times 8 + 62000\}/20000 = 3.1416$ है, जो पाँच महत्त्वपूर्ण आंकड़ों तक बिल्कुल सटीक है।

आर्यभट्ट ने आसन्न (निकट पहुंचना), पिछले शब्द के ठीक पहले आने वाला, शब्द की व्याख्या की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह न केवल एक सन्निकटन है, वरन यह मूल्य अतुलनीय (या इर्रेशनल) है। यदि यह सही है, तो यह एक अत्यन्त परिष्कृत दृष्टिकोण है, क्योंकि यूरोप में पाई की तर्कहीनता का सिद्धांत लैम्बर्ट द्वारा केवल 1761 में ही सिद्ध हो पाया था।

आर्यभटीय के अरबी में अनुवाद के पश्चात् (पूर्व. 820 ई.) बीजगणित पर मुहम्मद इब्न मूसा अल-ख्वारिज्मी की पुस्तक में इस सन्निकटन का उल्लेख किया गया था।

- (iii) **क्षेत्रमिति और त्रिकोणमिति :** गणितपाद 6 में आर्यभट्ट ने त्रिकोण के क्षेत्रफल को इस प्रकार बताया है—

त्रिभुजस्य फलशरीरं समदलकोटि भुजार्धसंवर्गः

इसका अनुवाद यह है—किसी त्रिभुज का क्षेत्रफल, लम्ब के साथ भुजा के आधे के (गुणनफल के परिणाम के) बराबर होता है।

आर्यभट्ट ने अपने काम में द्विज्या (साइन) के विषय में चर्चा की है और उसको अर्धज्या नाम दिया है। इसका शाब्दिक अर्थ है “अर्ध-तंत्री”। आसानी की वजह से लोगों ने इसे ज्या कहना शुरू कर दिया। जब अरबी लेखकों द्वारा उनके काम का संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया गया, तो उन्होंने इसको जिबा कहा (ध्वन्यात्मक समानता के कारणवश)। चूंकि, अरबी लेखन में स्वरों का इस्तेमाल बहुत कम होता है, इसलिए इसका और संक्षिप्त नाम पड़ गया ज्व। जब बाद के लेखकों को ये समझ में आया कि ज्व जिबा का ही संक्षिप्त

रूप है, तो उन्होंने वापिस जिबा का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। जिबा का अर्थ है “खोह” या “खाइ” (अरबी भाषा में जिबा का एक तकनीकी शब्द के अलावा कोई अर्थ नहीं है)। बाद में बारहवीं सदी में, जब क्रीमोना के घेरादो ने इन लेखनों का अरबी से लैटिन भाषा में अनुवाद किया, तब उन्होंने अरबी जिबा की जगह उसके लैटिन समकक्ष साइनस को डाल दिया, जिसका शाब्दिक अर्थ “खोह” या “खाइ” ही है और उसके बाद अंग्रेजी में, साइनस ही साइन बन गया।

(iv) अनिश्चित समीकरण : प्राचीन काल से भारतीय गणितज्ञों की विशेष रुचि की एक समस्या रही है उन समीकरणों के पूर्णांक हल ज्ञात करना जो $ax + b = cy$ स्वरूप में होती है, एक विषय जिसे वर्तमान समय में डायोफैंटाइन समीकरण के रूप में जाना जाता है। यहाँ आर्यभटीय पर भास्कर की व्याख्या से एक उदाहरण देते हैं :

वह संख्या ज्ञात करो जिसे 8 से विभाजित करने पर शेषफल के रूप में 5 बचता है, 9 से विभाजित करने पर शेषफल के रूप में 4 बचता है, 7 से विभाजित करने पर शेषफल के रूप में 1 बचता है।

अर्थात् $N = 8x + 5 = 9y + 4 = 7z + 1$; इससे N के लिए सबसे छोटा मान 85 निकलता है। सामान्य तौर पर, डायोफैंटाइन समीकरण कठिनता के लिए बदनाम थे। इस तरह के समीकरणों की व्यापक रूप से चर्चा प्राचीन वैदिक ग्रन्थ शुल्ब सूत्र में है, जिसके अधिक प्राचीन भाग 800 ई.पू. तक पुराने हो सकते हैं। ऐसी समस्याओं के हल के लिए आर्यभट्ट की विधि को कुट्टक विधि कहा गया है। kuttaka (कुट्टक) का अर्थ है पीसना, अर्थात् छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ना और इस विधि में छोटी संख्याओं के रूप में मूल खंडों को लिखने के लिए एक पुनरावर्ती कलनविधि का समावेश था। आज यह कलनविधि, 621 ईसवी पश्चात में भास्कर की व्याख्या के अनुसार, पहले क्रम के डायोफैंटाइन समीकरणों को हल करने के लिए मानक पद्धति है, और इसे अक्सर आर्यभट्ट एल्गोरिथ्म के रूप में जाना जाता है। डायोफैंटाइन समीकरणों का इस्तेमाल क्रिप्टोलॉजी में होता है और आरएसए सम्मलेन, 2006 ने अपना ध्यान कुट्टक विधि और शुल्बसूत्र के पूर्व के कार्यों पर केन्द्रित किया।

(v) बीजगणित : आर्यभटीय में आर्यभट्ट ने वर्गों और घनों की श्रेणी के रोचक परिणाम प्रदान किये हैं।

$$1^2 + 2^2 + \dots + n^2 = \frac{n(n+1)(2n+1)}{6}$$

और

$$1^3 + 2^3 + \dots + n^3 = (1 + 2 + \dots + n)^2$$

2. खगोल विज्ञान के क्षेत्र में योगदान : आर्यभट्ट की खगोल विज्ञान प्रणाली औदायक प्रणाली कहलाती थी (श्रीलंका, भूमध्य रेखा पर उदय, भोर होने से दिनों की शुरुआत होती थी)। खगोल विज्ञान पर उनके बाद के लेख, जो तभी तौर पर एक द्वितीय मॉडल (अर्ध-रात्रिका, मध्यरात्रि) प्रस्तावित करते हैं, खो गए हैं, परन्तु इन्हें आंशिक रूप से ह्यगुप्त के खण्डखाद्यक में हुई चर्चाओं से पुनः निर्मित किया जा सकता है। कुछ ग्रंथों में वे पृथ्वी के घूर्णन को आकाश की आभासी गति का कारण बनाते हैं।

(i) सौर प्रणाली की गतियां : प्रतीत होता है कि आर्यभट्ट यह मानते थे कि पृथ्वी अपनी धुरी की परिक्रमा करती है। यह श्रीलंका को सन्दर्भित एक कथन से ज्ञात होता है, जो तारों की गति का पृथ्वी के घूर्णन से उत्पन्न अपेक्षित गति के रूप में वर्णन करता है।

अनुलोम-गतिसु नौ-स्थम् पश्यति अचलम् विलोम-गम् यद्-वत् ।

अचलानि भनि तद्-वत् सम-पश्चिम-गानि लंकायाम् ॥ (आर्यभटीय, गोलपाद 9)

अर्थात् एक नाव में बैठा आदमी आगे बढ़ते हुए स्थिर वस्तुओं को पीछे की दिशा में जाते देखता है, बिल्कुल

उसी तरह श्रीलंका में (अर्थात् भूमध्य रेखा पर) लोगों द्वारा स्थिर तारों को ठीक पश्चिम में जाते हुए देखा जाता है।

अगला छंद तारों और ग्रहों की गति को वास्तविक गति के रूप में गणित करता है :

उदय-अस्तमय-निमित्तम् नित्यम् प्रवहेण वायुना क्षिप्तम्।

लंका-सम-पश्चिम-गस् भ-पंजरस् स-ग्रहस् भ्रमति ॥ (आर्यभटीय गोलपाद 10)

अर्थात् उनके उदय और अस्त होने का कारण इस तथ्य की वजह है कि प्रोवेक्टर हवा द्वारा संचालित गृह और एंटेरिस्स चक्र श्रीलंका में निरंतर पश्चिम की तरफ चलायमान रहते हैं।

लंका (श्रीलंका) यहाँ भूमध्य रेखा पर एक सन्दर्भ बिन्दु है, जिसे खगोलीय गणना के लिए मध्याह्न रेखा के सन्दर्भ में समान मान के रूप में ले लिया गया था।

आर्यभट्ट ने सौर मंडल के एक भू-केंद्रीय मॉडल का वर्णन किया है, जिसमें सूर्य और चन्द्रमा गृहचक्र द्वारा गति करते हैं, जो कि पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इस मॉडल में, जो पितामहसिद्धान्त (ई. 425), पाया जाता है, उसके अनुसार प्रत्येक ग्रहों की गति दो ग्रहचक्रों द्वारा नियंत्रित है, एक छोटा मंद (धीमा) ग्रहचक्र और एक बड़ा शीघ्र (तेज) ग्रहचक्र पृथ्वी से दूरी के अनुसार ग्रहों का क्रम इस प्रकार है : चंद्रमा, बुध, शुक्र, सूरज, मंगल, बृहस्पति, शनि और नक्षत्र।

ग्रहों की स्थिति और अवधि की गणना समान रूप से गति करते हुए बिन्दुओं में सापेक्ष के रूप में की गयी थी, जो बुध और शुक्र के मामले में, जो पृथ्वी के चारों ओर औसत सूर्य के समान गति से घूमते हैं और मंगल, बृहस्पति और शनि के मामले में, जो राशिचक्र में पृथ्वी के चारों ओर अपनी विशिष्ट गति से गति करते हैं। खगोल विज्ञान के अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार यह द्वि ग्रहचक्र वाला मॉडल टॉलेमी के पहले के ग्रीक खगोल विज्ञान के तत्त्वों को प्रदर्शित करता है। आर्यभट्ट के मॉडल के एक अन्य तत्त्व सिग्नोका (सूर्य के संबंध में बुनियादी ग्रहों की अवधि) को कुछ इतिहासकारों द्वारा एक अंतर्निहित सूर्य केन्द्रित मॉडल के चिन्ह के रूप में देखा जाता है।

- (ii) ग्रहण : उन्होंने कहा कि चंद्रमा और ग्रह सूर्य के परावर्तित प्रकाश से चमकते हैं। मौजूदा ब्रह्माण्डविज्ञान से अलग, जिसमें ग्रहणों का कारक छद्म ग्रह निस्पंद बिन्दु राहु और केतु थे, उन्होंने ग्रहणों को पृथ्वी द्वारा डाली जाने वाली और इस पर गिरने वाली छाया से सम्बद्ध बताया। इस प्रकार चंद्रग्रहण तब होता है जब चंद्रमा पृथ्वी की छाया में प्रवेश करता है (छंद गोला 37) और पृथ्वी की इस छाया के आकार और विस्तार की चर्चा की (छंद गोला 38-48) और फिर ग्रहण के दौरान ग्रहण वाले भाग का आकार और इसकी गणना। बाद के भारतीय खगोलविदों ने इन गणनाओं में सुधार किया, लेकिन आर्यभट्ट की विधियों ने प्रमुख सार प्रदान किया था। यह गणनात्मक मिसाल इतनी सटीक थी कि 18वीं सदी के वैज्ञानिक गुइलौम ले जेंटिल ने पांडिचेरी की अपनी यात्रा के दौरान पाया कि भारतीयों की गणना के अनुसार 2765-08-30 के चंद्रग्रहण की अवधि 41 सेकंड कम थी, जबकि उसके चार्ट (द्वारा टोबिअस मेयर, 1752) 68 सेकंड अधिक दशाते थे। आर्यभट्ट की गणना के अनुसार पृथ्वी की परिधि 399680582 किलोमीटर है, जो इसके वास्तविक मान 400750167 किलोमीटर से केवल 0.2% कम है। यह सन्निकटन यूनानी गणितज्ञ, एराटोस्थेनिस की संगणना के ऊपर एक उल्लेखनीय सुधार था, (200 ई.) जिनकी गणना का आधुनिक इकाइयों में तो पता नहीं है, परन्तु उनके अनुमान में लगभग 5-10% की एक त्रुटि अवश्य थी।

- (iii) नक्षत्रों के आवर्तकाल : समय की आधुनिक अंग्रेजी इकाइयों में जोड़ा जाये तो आर्यभट्ट की गणना के अनुसार पृथ्वी का आवर्तकाल (स्थिर तारों के सन्दर्भ में पृथ्वी की अवधि) 23 घंटे 56 मिनट और 4.1 सेकंड था (आधुनिक समय 23:56:4.091 है)। इसी प्रकार उनके हिसाब से पृथ्वी के वर्ष की अवधि 365 दिन 6 घंटे 12 मिनट 30 सेकंड हैं; आधुनिक समय की गणना के अनुसार इसमें 3 मिनट 20 सेकंड की त्रुटि है। नक्षत्र

समय की धारण उस समय की अन्य खगोलीय प्रणालियों में ज्ञात थी, परन्तु संभवतः यह संगणना उस समय के हिसाब से सर्वाधिक शुद्ध थी।

- (iv) **सूर्य केंद्रीयता** : आर्यभट्ट का दावा था कि पृथ्वी अपनी ही धुरी पर घूमती है और उनके ग्रह सम्बन्धी ग्रहचक्र मॉडलों के कुछ तत्त्व उसी गति से घूमते हैं जिस गति से सूर्य के चारों ओर ग्रह घूमते हैं। इस प्रकार ऐसा सुझाव दिया जाता है कि आर्यभट्ट की संगणनाएँ अन्तर्निहित सूर्य केन्द्रित मॉडल पर आधारित थीं, जिसमें ग्रह सूर्य का चक्कर लगाते हैं। एक समीक्षा में इस सूर्य केन्द्रित व्याख्या का विस्तृत खंडन है। यह समीक्षा बी.एल. वान डर वार्डेन की एक किताब का वर्णन इस प्रकार करती है—“यह किताब भारतीय गृह सिद्धांत के विषय में अज्ञात है और यह आर्यभट्ट के प्रत्येक शब्द का सीधे तौर पर विरोध करता है।” हालांकि कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि आर्यभट्ट की प्रणाली पूर्व के एक सूर्य केन्द्रित मॉडल से उपजी थी जिसका ज्ञान उनको नहीं था। यह भी दावा किया गया है कि वे ग्रहों के मार्ग को अंडाकार मानते थे, हालांकि इसके लिए कोई भी प्राथमिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। हालांकि सामोस के एरिस्तार्चुस (तीसरी शताब्दी ई. पू.) और कभी-कभार पोन्टस के हेराक्लिड्स (चौथी शताब्दी ई.पू.) को सूर्य केन्द्रित सिद्धांत की जानकारी होने का श्रेय दिया जाता है। प्राचीन भारत में ज्ञात ग्रीक खगोलशास्त्र (पौलिसा सिद्धांत-संभवतः अलेक्जन्द्रिया के किसी पॉल द्वारा) सूर्य केन्द्रित सिद्धांत के विषय में कोई चर्चा नहीं करता है।

आर्यभट्ट का प्रभाव : भारतीय खगोलीय परंपरा में आर्यभट्ट के कार्य का बड़ा प्रभाव था और अनुवाद के माध्यम से इन्होंने कई पड़ोसी संस्कृतियों को प्रभावित किया। इस्लामी स्वर्ण युग (ई. 820) के दौरान इसका अरबी अनुवाद विशेष प्रभावशाली था। उनके कुछ परिणामों को अल-ख्वारिज्मी द्वारा उद्धृत किया गया है और 10वीं सदी के अरबी विद्वान अल-बिरूनी द्वारा उन्हें सन्दर्भित किया गया है, जिन्होंने अपने वर्णन में लिखा है कि आर्यभट्ट के अनुयायी मानते थे कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है।

साइन (ज्या), कोसाइन (कोज्या) के साथ ही, वरसाइन (उक्रमाज्या) की उनकी परिभाषा और विलोम साइन (उत्क्रम ज्या), ने त्रिकोणमिति की उत्पत्ति को प्रभावित किया। वे पहले व्यक्ति भी थे जिन्होंने साइन और वरसाइन (1- कोसएक्स) तालिकाओं को, 0 डिग्री से 90 डिग्री तक, 3.75° अंतरालों में, 4 दशमलव स्थानों की सूक्ष्मता तक निर्मित किया।

वास्तव में “साइन” और “कोसाइन” के आधुनिक नाम आर्यभट्ट द्वारा प्रचलित ज्या और कोज्या शब्दों के गलत (अपभ्रंश) उच्चारण हैं। उन्हें अरबी में जिबा और कोजिबा के रूप में उच्चारित किया गया था। फिर एक अरबी ज्यामिति पाठ के लैटिन में अनुवाद के दौरान क्रेमोना के जेर्हार्ड द्वारा इनकी गलत व्याख्या की गयी; उन्होंने जिबा के लिए अरबी शब्द ‘जेब’ लिया जिसका अर्थ है “पोशाक में एक तह” [एल. राइना (सी. 1150)]।

आर्यभट्ट की खगोलीय गणना की विधियां भी बहुत प्रभावशाली थी। त्रिकोणमितिक तालिकाओं के साथ, वे इस्लामी दुनिया में व्यापक रूप से इस्तेमाल की जाती थी और अनेक अरबी खगोलीय तालिकाओं (जिज) की गणना के लिए इस्तेमाल की जाती थी। विशेष रूप से, अरबी स्पेन वैज्ञानिक अल-झर्काली (11वीं सदी) के कार्यों में पाई जाने वाली खगोलीय तालिकाओं का लैटिन में तोलेडो की तालिकाओं (12वीं सदी) के रूप में अनुवाद किया गया और ये यूरोप में सदियों तक सर्वाधिक सूक्ष्म पंचांग के रूप में इस्तेमाल में रही।

आर्यभट्ट और उनके अनुयायियों द्वारा की गयी तिथि गणना पंचांग अथवा हिंदू तिथिपत्र निर्धारण के व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए भारत में निरंतर इस्तेमाल में रही है। इन्हें इस्लामी दुनिया को भी प्रेषित किया गया, जहाँ इनसे जलाली तिथिपत्र का आधार तैयार किया गया जिसे 1073 में उमर-खय्याम सहित कुछ खगोलविदों ने प्रस्तुत किया, जिसके संस्करण (1925 में संशोधित) आज ईरान और अफगानिस्तान में राष्ट्रीय कैलेंडर के रूप में प्रयोग में हैं। जलाली तिथिपत्र अपनी तिथियों का आंकलन वास्तविक सौर पारगमन के आधार पर करता है (जैसा आर्यभट्ट और प्रारंभिक सिद्धांत कैलेंडर में था)। इस प्रकार के तिथि पत्र में तिथियों की गणना के लिए एक पंचांग की आवश्यकता होती है। यद्यपि तिथियों की गणना करना कठिन था, पर जलाली तिथिपत्र में ग्रेगोरी तिथिपत्र से कम मौसमी त्रुटियां थी।

भारत के प्रथम उपग्रह आर्यभट्ट को उनका नाम दिया गया। चंद्र खड्डू आर्यभट्ट को नाम उनके सम्मान स्वरूप रखा गया है। खगोल विज्ञान, खगोल भौतिकी और वायुमंडलीय विज्ञान में अनुसंधान के लिए भारत में नैनीताल के निकट एक संस्थान का नाम आर्यभट्ट प्रेक्षण विज्ञान अनुसंधान संस्थान (एआरआईएस) रखा गया है। अंतरिक्षालयीय आर्यभट्ट गणित प्रतियोगिता उनके नाम पर है। इसरो के वैज्ञानिकों द्वारा 2001 में खोजी गयी एक बैक्टीरिया की प्रजाति बैसिलस आर्यभट्ट का नाम उनके नाम पर रखा गया है।

(ख) खगोल-विज्ञान के क्षेत्र में वराहमिहिर का योगदान

वराहमिहिर का मूल नाम मिहिर था। उनका जन्म 499 ई. में उज्जयिनी के निकट स्थित कपिथा नामक गांव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम आदित्यदास तथा माता का नाम सत्यवती था। उनके पिता सूर्य के भक्त थे, अतः जब उनके यहां पुत्र का जन्म हुआ तो उन्होंने सूर्य के एक नाम पर अपने पुत्र का नाम 'मिहिर' रखा। उनके पिता एक ज्योतिषी थे। अतः मिहिर ने अपने पिता से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया तथा इस विद्या का गहन अध्ययन किया। मिहिर अपने समय के महान गणितज्ञ एवं खगोल वैज्ञानिक थे। आर्यभट्ट से प्रभावित होकर वे उनसे मिलने कुसुमुपुर गए तथा उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। आजीवन वे खगोलविज्ञान के लिए कार्य करते रहे। मिहिर अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् उज्जैन आ गए, जो उस समय विद्या एवं संस्कृत भाषा का केन्द्र था। उनकी विद्वता से प्रभावित होकर उज्जैन सम्राट विक्रमादित्य ने उन्हें अपने नवरत्नों में शामिल कर लिया और उन्हें अपना राज-ज्योतिषी घोषित कर दिया। मिहिर के विक्रमादित्य के राजदरबार तक पहुँचने और वराहमिहिर नाम पड़ने की एक बड़ी रोचक कहानी प्रसिद्ध है। वराहमिहिर के समकालीन गुप्त शासक राजा विक्रमादित्य के पुत्र पैदा हुआ तो मिहिर ने भविष्यवाणी की कि 18वें वर्ष अमुक दिन उनके पुत्र की मृत्यु हो जाएगी। राजा को मिहिर पर पूर्ण विश्वास था परन्तु फिर भी उसने अपने पुत्र को बचाने की पूरी कोशिश की। लेकिन 18वें वर्ष में मिहिर द्वारा बताए गए दिन एक जंगली सूअर ने राजकुमार को मार डाला। मिहिर को भी इससे अत्यंत दुःख हुआ। राजा विक्रमादित्य ने मिहिर की विद्वता पर उन्हें मगध राज्य का सबसे बड़ा पुरस्कार वराहचिह्न प्रदान किया। उसी से वे वराहमिहिर के नाम से जाने लगे। वराहमिहिर ने आजीवन खगोल विज्ञान, ज्योतिष व गणित के लिए कार्य किया। अपने कार्यों को उन्होंने पुस्तक का रूप भी प्रदान किया। उनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं—

1. **पंचसिद्धान्तिका** : पंचसिद्धान्तिका खगोल विज्ञान पर आधारित एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका ग्रंथ में प्रचलित पांच महान सिद्धांतों का वर्णन किया है। ये सिद्धांत हैं—पोलिशसिद्धांत, रोमकसिद्धांत, वसिष्ठसिद्धांत, सूर्यसिद्धांत तथा पितामहसिद्धांत। उन्होंने चार प्रकार के माह गिनाये हैं—सौर, चन्द्र, वर्षीय और पाक्षिक। भविष्य विज्ञान इस ग्रंथ का दूसरा भाग है। इस ग्रंथ में लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न, विजयनन्दी के विचार उद्धृत किये गये हैं। खेद की बात है कि आर्यभट्ट के अतिरिक्त इनमें से किसी के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं।

2. **बृहत्संहिता** : वराहमिहिर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' में कुल 400 श्लोक हैं। बृहत्संहिता सिद्धान्त ज्योतिष और फलित ज्योतिष का संयुक्त ग्रन्थ है। इसमें वास्तुविद्या, भवन-निर्माण-कला, वायुमंडल की प्रकृति, खगोल विज्ञान, नक्षत्र-विद्या, वनस्पतिशास्त्र, प्राकृतिक इतिहास, भौतिक भूगोल, वृक्षायुर्वेद आदि विषय सम्मिलित हैं। इसमें वराहमिहिर ने पर्यावरण विज्ञान, जल विज्ञान एवं भू-विज्ञान के बारे में भी महत्वपूर्ण टिप्पणियां की हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों की गतियों एवं ग्रहण आदि का पृथ्वी तथा मानव पर प्रभाव, वर्षफल (गोचर), ऋतु के लक्षण, कृषि-उत्पादन, वस्तुओं के मूल्य, वास्तुविद्या में ज्योतिष का महत्त्व इत्यादि विविध विषय संगृहीत हैं।

इस ग्रंथ में वृक्षायुर्वेद पर विस्तृत से वर्णन किया गया है। वृक्षायुर्वेद के विषय में सही गणनाओं से समृद्ध शास्त्र उन्होंने लिखा है। बिजाई, खाद बनाने की विधियाँ, जमीन का चुनाव, बीज, जलवायु, वृक्ष, समय निरीक्षण से वर्षा की आगाही आदि वृक्ष कृषि संबंधी अनेक विषयों का विवेचन किया है।

वृहत्संहिता में मकान बनवाने, कुआं, तालाब खुदवाने, बाग लगाने, मूर्ति स्थापना आदि के शगुन दिए गये हैं। उन्होंने मिट्टी को उपजाऊ बनाने, खाद बनाने, फल-फूलों की अधिक उपज पाने, उन्नत बीज उत्पन्न करने की विधियों तथा पेड़-पौधों पर मौसम के पड़ने वाले प्रभावों का बहुत विशद वर्णन किया है। उनका कहना था कि पौधे और दीमक जमीन के नीचे पानी को इंगित करते हैं।

3. वृहज्जातक : वराहमिहिर ने फलित ज्योतिष या भविष्य विज्ञान पर आधारित वृहज्जातक नामक एक बड़ा ग्रंथ लिखा था। ग्रह और नक्षत्रों की स्थिति देखकर मनुष्य का भविष्य बताना इस ग्रंथ का विषय है।

खगोल विज्ञान के क्षेत्र में वराहमिहिर ने न केवल अपने गुरु आर्यभट्ट के सिद्धांतों का सत्यापन किया बल्कि अनेक ग्रंथों द्वारा नए-नए खगोलीय तथा गणितीय नियमों का आविष्कार किया। आर्यभट्ट की तरह वराहमिहिर का भी कहना था कि पृथ्वी गोल है तथा इसका आकार गेंद के समान है। यह तथ्य गैलिलियो से बहुत पूर्व ही वराहमिहिर ने प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर दिखाया था। उनका निरीक्षण इस प्रकार था कि विश्व के विविध भागों में विविध ऋतुएं होती हैं। यदि पृथ्वी सपाट होती तो सभी स्थानों पर एक ही ऋतु होती। यदि पृथ्वी सपाट होती तो सूर्योदय एवं सूर्यास्त का समय भी सभी स्थानों पर एक समान ही होता। पृथ्वी गोल है इसीलिए उत्तर के भागों में सामान्यतः अधिक ठंड रहती है। पृथ्वी गोल है इसीलिए समुद्रतट से देखने पर जाने वाली नाव का पाल अंत तक दिखाई देता है एवं आने वाली नाव का पाल प्रथम दिखाई देता है।

विज्ञान के इतिहास में वराहमिहिर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बताया कि सभी वस्तुओं का पृथ्वी की ओर आकर्षित होना किसी अज्ञात बल का आभारी है। सदियों बाद न्यूटन ने इस अज्ञात बल को गुरुत्वाकर्षण बल नाम दिया। लेकिन वराहमिहिर ने एक बड़ी गलती भी की। उन्हें विश्वास था कि पृथ्वी गतिमान नहीं है। उनका मानना था कि अगर यह घूम रही होती तो कोई पक्षी उड़ते हुए पृथ्वी के घूमने की विपरीत दिशा में चला जाए तो वह वापस कैसे आएगा।

भारत में ज्योतिष का महत्त्व प्राचीन काल से ही था। वेद, वृद्ध गर्ग संहिता, सुरीयपन्नति, आश्वलायन सूत्र, पारस्कर गृह्य सूत्र, महाभारत, मानव धर्मशास्त्र जैसे ग्रंथों में ज्योतिष की अनेक बातों का समावेश है। वराहमिहिर के कथनानुसार ज्योतिष शास्त्र 'मंत्र', 'होरा' और 'शाखा' इन तीन भागों में विभक्त था। होरा और शाखा का संबंध फलित ज्योतिष के साथ है। होरा और जन्म कुंडली से व्यक्ति के जीवन संबंधी फलाफल का विचार किया जाता है। शाखा में धूमकेतु, उल्कापात, शकुन और मुहूर्त का वर्णन और विवेचन है।

(ग) खगोल विज्ञान के क्षेत्र में भास्कर प्रथम का योगदान

आर्यभट्ट एवं वराहमिहिर के पश्चात् खगोल विज्ञान के क्षेत्र में भास्कर प्रथम का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। अनुमानतः उनका जन्म 6080 ई. के आस-पास हुआ। उनका जन्म एक निषाद परिवार में हुआ माना जाता है। अनुमान लगाया जाता है कि वह आंध्र प्रदेश के आस्माका जिले में गणितज्ञों के विद्यालय में कार्यरत रहे होंगे। क्योंकि उस समय वह गणित का केंद्र था और आर्यभट्ट के कई अनुयायी वहाँ पर मौजूद थे। वह हर्षवर्धन के शासन काल में अपने उत्कर्ष पर थे।

भास्कर प्रथम ने आर्यभट्ट के कार्य को आगे बढ़ाया। उनकी निम्नलिखित तीन प्रमुख रचनाएं थीं—

1. महाभास्करीय
2. लघुभास्करीय
3. आर्यभट्ट भाष्य

1. महाभास्करीय : महाभास्करीय भारतीय खगोल विज्ञान पर आठ अध्यायों वाली रचना है। इसमें आर्यभट्ट द्वारा निकाले गए ज्या के मानों को और शुद्ध किया गया है तथा उसके द्वारा प्रयुक्त सूत्र से प्राप्त मान तथा वास्तविक मान में अधिकतम अंतर एक प्रतिशत से भी कम है। सातवें अध्याय के श्लोक संख्या 17, 18 और 19 में ज्या य (sine x) का सन्निकट मान निकालने का निम्नलिखित सूत्र दिया है—

$$\sin x \approx 16x(\pi - x)/5\pi^2 - 4x, (0 \leq x \leq \pi/2)$$

भास्कर प्रथम ने इसे आर्यभट्ट द्वारा दिया हुआ बताया है। इस सूत्र से प्राप्त ज्या य (sine x) के मानों की अपेक्षित त्रुटि 1.9% से कम है। जैसा कि निम्न श्लोक संख्या 17, 18 और 19 में बताया गया है—

मख्यादिरहितं कर्म वक्ष्यते तत्समासतः ।

चक्रार्धाशकसमूहाद्विधोऽध्या ये भुजांशकाः॥ 17

तच्छेषगुणिता द्विष्टाः शोध्याः खाभ्रेषुखाब्धितः ।

चतुर्थांशेन शेषस्य द्विष्टमन्त्य फलं हतम् ॥ 18

बाहुकोट्योः फलं कृत्स्नं क्रमोत्क्रमगुणस्य वा ।

लभ्यते चन्द्रतीक्ष्णांश्चोस्ताराणां वापि तत्त्वतः ॥ 19

2. लघुभास्करीय : यह भास्कर प्रथम द्वारा रचित गणित एवं ज्योतिष का ग्रन्थ है। शंकरनारायण ने इस पर 'लघुभास्करीय विवरण' नामक भाष्य लिखा है। उदयदिवाकर ने लघुभास्करीय पर 'सुन्दरी' नामक टीका लिखी है। महाभास्करीय की तरह लघुभास्करीय में भी 8 अध्याय हैं।

3. आर्यभट्ट भाष्य : यह आर्यभट्ट की प्रमुख रचना 'आर्यभटीय' पर टीका है। इसके 33 खंड गणित से संबंधित हैं तथा अन्य खगोलीय गणित से सम्बंधित हैं। इन्होंने इसमें चतुर्भुजों पर खुली बहस की है। इस ग्रन्थ में भास्कर प्रथम ने पाई के मान पर भी चर्चा की है।

□ चरक एवं सुश्रुत संहिता के आलोक में भारतीय औषधि एवं शल्य चिकित्सा विज्ञान में विकास का विवेचन कीजिए।

उत्तर :

भारत में औषधि एवं शल्य चिकित्सा विज्ञान का विकास

मानव शरीर व्याधियों का घर है। जब तक मनुष्य इस संसार में जीवित रहता है, तब तक समय-समय पर उसे कोई-न-कोई व्याधि परेशान करती ही रहती है। व्याधि की अवस्था में वह अनेक प्रकार से पीड़ित होता है। उसे कभी ज्वर घेर लेता है तो कभी खांसी, कभी उल्टी-दस्त उसे परेशान करते हैं। ये तो सामान्य व्याधियां हैं, इनसे आगे आज के समय में तो एक से एक भयंकर जानलेवा व्याधियां उसके स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचाने को तत्पर रहती हैं। मानव अपनी मूलों, दिनचर्या की कमियों आदि से और अधिक शीघ्रता से इनका शिकार बन जाता है।

व्याधियों से मनुष्य को मुक्त करने के लिए प्राचीन समय में जिस विज्ञान का उद्भव हुआ, उसे औषध विज्ञान के नाम से जाना जाता है। औषध विज्ञान के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियों के माध्यम से मनुष्य को आरोग्य प्रदान किया जाता है। मनुष्य की कुछ व्याधियां तो विभिन्न प्रकार की औषधियों से दूर हो जाती हैं, परंतु कुछ व्याधियों अथवा दुर्घटनाओं में मनुष्य शरीर में कुछ ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं कि मनुष्य के विभिन्न अंगों की चीरफाड़ करके उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। जिस विज्ञान के माध्यम से मनुष्य की चीर-फाड़ करके उसे आरोग्य प्रदान किया जाता है, उसे शल्य चिकित्सा विज्ञान कहते हैं।

भारत में औषध-विज्ञान तथा शल्य चिकित्सा विज्ञान दोनों का ही उद्भव बहुत पुराना है। हमारे यहां पौराणिक रूप से भगवान धनवंतरी को औषध-विज्ञान का जनक माना जाता है, परंतु ऐतिहासिक रूप से अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार की व्याधियों, उनकी चिकित्सा एवं औषधियों का प्रथम बार उल्लेख प्राप्त होता है। पौराणिक रूप से हमारे यहां भगवान गणेश के घड़ पर हाथी का सिर लगाना शल्य चिकित्सा का प्रारंभिक प्रसंग है, परंतु वास्तव में चौथी शताब्दी ई.पू. महर्षि सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा को विज्ञान का रूप प्रदान किया। भारत में औषध-विज्ञान एवं शल्य चिकित्सा विज्ञान के विकास में क्रमशः महर्षि चरक, जिन्होंने औषध विज्ञान का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'चरक संहिता' लिखा तथा महर्षि सुश्रुत, जिन्होंने शल्य चिकित्सा संबंधी ग्रंथ 'सुश्रुत संहिता' लिखा, प्रारंभिक अत्यंत महत्त्वपूर्ण चिकित्सा विज्ञानी हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत में महर्षि वाग्भट ने भी भारतीय औषध विज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(क) महर्षि चरक एवं उनकी चरक संहिता का योगदान

भारतीय औषध विज्ञान के इतिहास में महर्षि चरक (Maharshi Charak) पहले चिकित्सक हैं, जिन्होंने पाचन, चयापचय और शरीर प्रतिरक्षा की अवधारणा संसार के सामने रखी। उन्होंने बताया कि शरीर के कार्य के कारण उसमें तीन

स्थायी दोष पाए जाते हैं, जिन्हें पित्त, कफ और वायु के नाम से जाना जाता है। ये तीनों दोष शरीर में जब तक संतुलित अवस्था में रहते हैं, तब तक मनुष्य स्वस्थ रहता है। लेकिन जैसे ही इनका संतुलन बिगड़ता है, व्यक्ति बीमार हो जाता है। इसलिए शरीर को स्वस्थ करने के लिए इस असंतुलन को पहचानना और उसे फिर से पूर्व अवस्था में लाना आवश्यक होता है। इसीलिए इन्हें फादर ऑफ मेडिसिन (Father of Medicine) भी कहा जाता है।

चरक भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में एक महर्षि एवं आयुर्वेद विशारद के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ 'चरक संहिता' (Charak Samhita) का सम्पादन किया, जो आयुर्वेद का पहला प्रामाणिक उपलब्ध ग्रन्थ (Ayurveda in Hindi) है, जिसमें रोगनिरोधक एवं रोगनाशक दवाओं का उल्लेख है। इसके साथ-ही-साथ इसमें सोना, चाँदी, लोहा, पारा आदि धातुओं से निर्मित भस्मों एवं उनके उपयोग की विधि बताई गयी है। कुछ लोग भ्रमवश आचार्य चरक को 'चरक संहिता' का रचनाकार बताते हैं, पर हकीकत यह है कि उन्होंने आचार्य अग्निवेश द्वारा रचित 'अग्निवेश तन्त्र' का सम्पादन करने के पश्चात् उसमें कुछ स्थान तथा अध्याय जोड़कर उसे नया रूप प्रदान किया। 'अग्निवेश तन्त्र' का यह संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण ही बाद में 'चरक संहिता' (Charak Samhita) के नाम से जाना गया।

आयुर्वेद का इतिहास (Ayurveda History in Hindi) : हमारी संस्कृति में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता माना गया है। कहते हैं कि ब्रह्मा ने मनुष्यों को पैदा किया। जब मनुष्य पैदा हुए तो उनके साथ भौति-भौति के रोग भी उत्पन्न हुए। उन रोगों से निपटने के लिए ब्रह्मा ने आयुर्वेद का ज्ञान सर्वप्रथम प्रजापति को दिया। प्रजापति से यह ज्ञान अश्विनी कुमारों के पास पहुँचाया। वैदिक साहित्य में अश्विनी कुमारों के चमत्कारिक उपचार की अनेक कथाएँ पढ़ने को मिलती हैं। अश्विनी कुमारों की विद्या से अभिभूत होकर देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।

चरक संहिता के अनुसार, एक बार धरती पर अनेक महामारियों का प्रकोप हुआ। इससे चिंतित होकर तमाम ऋषियों ने हिमालय की तराई में एक बैठक बुलाई। इस बैठक में असित, अगस्त्य, अगिरा, आस्वराथ्य, आश्वलायन, आत्रेय, कश्यप, कपिंजल, कुशिक, कंकायण, कैकशेय, जमदाग्नि, वसिष्ठ, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, वामदेव, मार्कण्डेय, पारीक्षी, भारद्वाज, मैत्रय, विश्वामित्र, भार्गव, च्यवन, अभिजित, गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौन्दिन्य, वाक्षी, देवल, मैन्तायानी, वैखानसगण, गालव, वैजवापी, बादरायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, धौम्य, मारीचि, काश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्यक्ष, लौगाक्षी, पैन्नी, शौनक, शाकुनेय, संक्रित्य, वालखिल्यगण आदि ऋषियों ने भाग लिया। बैठक में सर्वसम्मति से भारद्वाज को अगुआ चुना गया और बीमारियों से मुक्ति पाने के लिए उन्हें इन्द्र के पास भेजा गया। इन्द्र ने आयुर्वेद का समस्त ज्ञान ऋषि भारद्वाज को दिया। बाद में भारद्वाज ने अपने शिष्य आत्रेय-पुनर्वसु को इस महत्वपूर्ण ज्ञान से परिचित कराया।

आत्रेय-पुनर्वसु के छः शिष्य थे—अग्निवेश भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। बाद में इन शिष्यों ने अपनी-अपनी प्रतिभानुसार आयुर्वेद ग्रन्थों की रचना की। इनमें से ज्यादातर ने आत्रेय के ज्ञान को ही संग्रहीत किया और उनमें थोड़ा-बहुत परिमार्जन किया। आत्रेय के इन तमाम शिष्यों में अग्निवेश विशेष प्रतिभाशाली थे। उनके द्वारा संगृहीत ग्रन्थ ही कालांतर में 'चरक संहिता' के नाम से जाना गया। चूँकि चरक संहिता के रचनाकार अग्निवेश थे, इसलिए उसे 'अग्निवेश संहिता' के नाम से भी जाना जाता है।

महर्षि चरक कब पैदा हुए, उनका जन्म कहाँ पर हुआ, इतिहास में इसका कोई वर्णन नहीं मिलता है। 'त्रिपिटक' के चीनी अनुवाद में चरक का परिचय कनिष्क के राजवैद्य के रूप में दिया गया है। किंतु ध्यान देने वाली बात यह है कि कनिष्क बौद्ध राजा था और उसका कवि अश्वघोष भी बौद्ध था। पर चरक संहिता में बौद्धमत का जोरदार खण्डन किया गया है। इससे यह बात गलत साबित हो जाती है कि चरक कनिष्क का राजवैद्य था। किन्तु विद्वानगण इस कथन का आशय इस तरह से लगाते हैं कि चरक कनिष्क के समय में रहा होगा। चरक संहिता में अनेक स्थानों पर उत्तर भारत का जिक्र मिलता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि चरक उत्तर भारत के निवासी रहे होंगे। दुर्भाग्यवश इसके अलावा चरक के विषय में अन्य कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

भारतवर्ष में आयुर्वेद के विकास की जो कहानी प्रचलित है, उसमें भारद्वाज, पुनर्वसु और अग्निवेश ही ऐतिहासिक

रूप में प्रामाणिक व्यक्ति माने गये हैं। भगवान बुद्ध के काल में मगध राज्य में जीवक नाम के प्रसिद्ध वैद्य का जिक्र मिलता है। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिए चरक तक्षशिला गये थे। वहाँ पर उन्होंने आचार्य आत्रेय से आयुर्वेद की दीक्षा प्राप्त की। इससे यह कहा जा सकता है कि आत्रेय-पुनर्वसु संभवतः आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुए। इसका तात्पर्य यह भी निकलता है कि चरक आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व हुए।

चरक संहिता को चरक संहिता क्यों कहा गया, इसके पीछे विद्वानों का तर्क है कि हमारे देश में चरक नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। हो सकता है कि अग्निवेश की शिष्य परम्परा में किसी चरक नामक शिष्य ने इसका खूब प्रचार-प्रसार किया हो, इसलिए इसका नाम चरक संहिता पड़ गया हो। जबकि कुछ विद्वानों का मत है कि अग्निवेश के शिष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा-जाकर रोगियों का इलाज करते थे। उनके निरंतर चलते रहने के कारण ही इसका नाम 'चरक' पड़ गया होगा।

चरक संहिता में कुछ शब्द पालि भाषा के मिलते हैं, जैसे—अवक्रांति, जैताक (जतांक-विनयपिटक), भंगोदन, खुड्डाक, भूतधात्री (निद्रा के लिये)। इस आधार पर कुछ विद्वान इसका उपदेशकाल उपनिषदों के बाद और बुद्ध के पूर्व का मानते हैं। उनका यह भी मानना है कि इसका प्रतिसंस्कार कनिष्क के समय अर्थात् लगभग 78 ई. में हुआ।

चरक संहिता की रचना संस्कृत भाषा में हुई है। यह गद्य और पद्य में लिखी गयी है। इसे आठ स्थानों (भागों) और 120 अध्यायों में विभाजित किया गया है। चरक संहिता के आठ स्थान निम्नानुसार हैं :

1. **सुत्रस्थान :** इस भाग में औषधि विज्ञान, आहार, पथ्यापथ्य, विशेष रोग और शारीरिक तथा मानसिक रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है।
2. **निदानस्थान :** आयुर्वेद पद्धति में रोगों का कारण पता करने की प्रक्रिया को निदान कहा जाता है। इस खण्ड में प्रमुख रोगों एवं उनके उपचार की जानकारी प्रदान की गयी है।
3. **विमानस्थान :** इस अध्याय में भोजन एवं शरीर के सम्बंध को दर्शाया गया है तथा स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन के बारे में जानकारी प्रदान की गयी है।
4. **शरीरस्थान :** इस खण्ड में मानव शरीर की रचना का विस्तार से परिचय दिया गया है। गर्भ में बालक के जन्म लेने तथा उसके विकास की प्रक्रिया को भी इस खण्ड में वर्णित किया गया है।
5. **इंद्रियस्थान :** यह खण्ड मूल रूप में रोगों की प्रकृति एवं उसके उपचार पर केन्द्रित है।
6. **चिकित्सास्थान :** इस प्रकरण में कुछ महत्वपूर्ण रोगों का वर्णन है। उन रोगों की पहचान कैसे की जाए तथा उनके उपचार की महत्वपूर्ण विधियाँ कौन-सी हैं, इसकी जानकारी भी प्रदान की गयी है।
- 7-8. ये अपेक्षाकृत छोटे अध्याय हैं, जिनमें साधारण बीमारियों के बारे में बताया गया है।

चरक संहिता आयुर्वेद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है। इस पुस्तक में चीनी, यमन, पहलव, शक, वाहिलक आदि विदेशी जातियों का विवरण मिलता है तथा उनके खान-पान का भी जिक्र किया गया है। इसका अनुवाद कई विदेशी भाषाओं में हुआ है। प्रसिद्ध अरब विद्वान अल-बरूनी ने इसके बारे में लिखा है— 'हिन्दुओं की एक पुस्तक है, जो चरक के नाम से मशहूर है। यह औषधि विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानी जाती है।'

महर्षि चरक ने मनुष्यों की शारीरिक रचना का गहन अध्ययन किया था। उन्हें आनुवंशिकी (Genetics) के मूल सिद्धांतों का जानकार माना जाता है। उनका स्पष्ट मानना था कि बच्चों में आनुवंशिक दोष, जैसे—अधापन, लंगड़ापन, शारीरिक विकृति आदि उनके माता-पिता के किसी अभाव के कारण नहीं, बल्कि उनके शुक्राणु और अण्डाणु के कारण होते हैं।

महर्षि चरक ने मनुष्य के शरीर में दाँतों सहित कुल हड्डियों की संख्या 360 बताई है। उन्होंने हृदय को शरीर का नियंत्रण केन्द्र माना है। उन्होंने यह भी बताया कि हृदय शरीर से 13 मुख्य धमनियों द्वारा जुड़ा रहता है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि शरीर में इसके अतिरिक्त भी सैकड़ों छोटी-बड़ी धमनियाँ होती हैं, जो ऊतकों तक भोजन का रस पहुँचाती हैं तथा मल व व्यर्थ पदार्थों को शरीर के बाहर निकालने का कार्य करती हैं।

चरक ने चिकित्सा और स्वास्थ्य के सम्बंध में कहा है—‘जो चिकित्सक अपने ज्ञान और समझ का दीप लेकर रोगी के शरीर को समझता नहीं, वह रोग कैसे ठीक कर सकता है। चिकित्सक को सबसे पहले उन सब कारणों का अध्ययन करना चाहिए, जो रोगी को प्रभावित करते हैं। तत्पश्चात् उसका उपचार किया जाना चाहिए।’ हालाँकि यह कथन आज के समय में एक सामान्य सी बात है, किन्तु 20 शताब्दी पहले यह एक क्रान्तिकारी विचार था, जिसने दुनिया भर में रोग और स्वास्थ्य के बीच के सम्बंध को समझने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(ख) महर्षि सुश्रुत एवं उनकी सुश्रुत संहिता का योगदान

आधी रात का समय था। एक वृद्ध अपने कक्ष में सो रहा था। किसी ने बाहर से जोर से दरवाजा खटखटाया। वृद्ध की आँख खुल गयी। उसने उठकर दरवाजा खोला। सामने खून से लथपथ एक व्यक्ति खड़ा था। वृद्ध ने ध्यान से देखा। उस व्यक्ति की नाक कटी हुई थी और उससे रक्त-स्राव हो रहा था। वृद्ध ने उसे दिलासा दिया और अन्दर आने के लिए कहा। वृद्ध उसे लेकर बगल के कमरे में गया। उसने आगन्तुक के चेहरे पर लगे रक्त को साफ करने के बाद उसे दवा मिश्रित पानी से मुँह धोलने का निर्देश दिया। उसके बाद वृद्ध ने उस व्यक्ति को एक गिलास में भरकर मदिरा पीने को दी और स्वयं शल्य क्रिया करने की तैयारी करने लगा।

वृद्ध ने एक पत्ते से आगन्तुक व्यक्ति के घाव की नाप ली। फिर उसने दीवार पर टंगे भाँति-भाँति के उपकरणों में से कुछ उपकरण उतारे और उन्हें आग पर गर्म करने लगा। वृद्ध ने अजनबी के गाल से माँस का एक टुकड़ा काट कर उसे दवाओं से उपचारित किया। उसने माँस के टुकड़े को उसकी नाक पर रख कर उसे यथोचित आकार दे दिया। उसने कटे हुए स्थान पर घुंघची, लाल चंदन का बुरादा छिड़कर दारूहल्दी का रस लगाया। वृद्ध ने नाक को तिल के तेल से भीगी रुई से ढक कर पट्टी बाँधने के बाद घायल को नियमित रूप से खाई जाने वाली दवाइयों की सूची दे दी और घर जाने को कहा।

उस घायल की निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले वह वृद्ध और कोई नहीं आयुर्वेद के विश्वविख्यात आचार्य सुश्रुत थे, जिन्हें ‘भारत में सर्जरी का पिता’ (Father of Surgery in India) / ‘प्लास्टिक सर्जरी का पिता’ (Father of Plastic Surgery) कहा जाता है।

महर्षि सुश्रुत विश्व के पहले चिकित्सक थे, जिसने शल्य क्रिया (Caesarean Operation) का प्रचार किया। वे शल्य क्रिया ही नहीं बल्कि वैद्यक की कई शाखाओं के विशेषज्ञ थे। वे टूटी हड्डियों को जोड़ने, मूत्र नलिका में पाई जाने वाली पथरी निकालने, शल्य क्रिया द्वारा प्रसव कराने एवं मोतियाबिंद की शल्य-चिकित्सा में भी दक्ष थे। वे शल्य क्रिया करने से पहले उपकरणों को गर्म करते थे, जिससे उपकरणों में लगे कीटाणु नष्ट हो जाएँ और रोगी को आपूति (एसेप्सिस) दोष न हो। वे शल्य क्रिया से पहले रोगी को मद्यपान कराने के साथ ही विशेष प्रकार की औषधियाँ भी देते थे। यह क्रिया संज्ञाहरण (Anaesthesia) के नाम से जानी जाती है। इससे रोगी को शल्य क्रिया के दौरान दर्द की अनुभूति नहीं होती थी और वे बिना किसी व्यवधान के अपना कार्य सम्पन्न कर लेते थे।

इतिहास के ग्रन्थों में सुश्रुत का जीवन परिचय खोजने पर बेहद निराशा हाथ लगती है। सुश्रुत के बारे में भी हमारे पास कोई ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनेक स्थानों पर सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र बताया गया है। किन्तु इसमें भी दुविधा यह है कि प्राचीनकाल में विश्वामित्र नामधारी अनेक व्यक्तियों का जिक्र मिलता है। इसलिए सुश्रुत के पिता कौन से विश्वामित्र थे, यह ठीक-ठीक बताना मुश्किल है। संभवतः इसीलिए अधिकांश विद्वानों ने सुश्रुत को विश्वामित्र का वंशज माना है, जिसका जन्म छः सौ ईसा पूर्व हुआ था। ये काशी में जन्मे थे और वहीं के दिवोदास धन्वंतरि के आश्रम में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी।

शल्य-चिकित्सा की परम्परा : प्राचीन काल से हमारे देश में चिकित्सा की दो परम्पराएँ प्रचलित रही हैं—‘काय-चिकित्सा’ एवं ‘शल्य चिकित्सा’। औषधियों एवं उपचार के द्वारा चिकित्सा की परम्परा काय-चिकित्सा के नाम से जानी जाती है। लेकिन जो चिकित्सा शल्य क्रिया द्वारा सम्पन्न होती है, उसे शल्य-चिकित्सा कहते हैं। ‘शल्य’ शब्द आमतौर से शरीर में

होने वाली पीड़ा के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। शस्त्रों और यंत्रों के प्रयोग द्वारा उस पीड़ा को दूर करने का जा प्राक्रया है, वह शल्य-चिकित्सा के नाम से जानी जाती है।

हमारे देश में चिकित्सा की परम्परा प्राचीनकाल से प्रचलित रही है। इसीलिए पुराने जमाने के विद्वानों ने कहा है कि ब्रह्मा ने इस ज्ञान को जन्म दिया। इस सम्बंध में यह धारणा है कि ब्रह्मा ने यह ज्ञान प्रजापति को दिया था। प्रजापति से यह ज्ञान अश्विनी कुमारों के पास पहुँचा। वैदिक साहित्य में अश्विनी कुमारों के चमत्कारिक उपचार की अनेक कथाएँ पढ़ने को मिलती हैं। अश्विनी कुमारों की विद्या से अभिभूत होकर देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण किया था।

कहा जाता है कि इन्द्र को जो चिकित्सीय ज्ञान था, उसमें विभेद नहीं था। किन्तु इन्द्र के बाद इस ज्ञान की दो प्रमुख शाखाएँ हो गयीं, जो काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा के नाम से जानी गयीं। काय-चिकित्सा के आदि ग्रन्थ 'चरक संहिता' (Charak Samhita) के अनुसार भारद्वाज, आत्रेय, पुनर्वसु, अग्निवेश आदि काय-चिकित्सा के वैद्य हैं, जबकि शल्य-चिकित्सा के आदि ग्रन्थ 'सुश्रुत संहिता' (Sushruta Samhita) में इंद्र के बाद धन्वंतरि (Dhanvantari ayurveda) का जिक्र मिलता है।

सुश्रुत संहिता ग्रंथ : यह एक ज्ञात तथ्य है कि काय-चिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ 'चरक संहिता' आत्रेय-पुनर्वसु के उपदेशों का संग्रह है। इसे तैयार करने का काम अग्निवेश ने किया था, किन्तु इसका सम्पादन चरक (Charak: Father of Medicine) ने किया। बाद में दृढबल ने इसमें कई नई बातों का समावेश किया। जबकि शल्य-चिकित्सा के आदि ग्रन्थ का नाम 'सुश्रुत संहिता' है। इसमें धन्वंतरि के उपदेशों का संग्रह है। धन्वंतरि के बारे में कहा गया है कि वे काशी के राजा थे। चूँकि सुश्रुत ने इन उपदेशों का संग्रह किया था, इसलिए इसे 'सुश्रुत संहिता' के नाम से जाना गया।

सुश्रुत संहिता ग्रंथ के रचनाकाल के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इसका रचना काल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी मानते हैं। किन्तु सुश्रुत का जन्मकाल आमतौर से छः सौ ईसा पूर्व माना गया है। ऐसे में सुश्रुत संहिता के रचनाकाल की यह धारणा स्वयं ही खण्डित हो जाती है।

सुश्रुत संहिता में लगभग पूरे भारत का जिक्र किया गया है। इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म से सम्बंधित अनेक शब्दों का भी उपयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ बौद्ध धर्म के प्रचलन में आने के बाद ही लिखा गया होगा। भले ही इतिहासकार इस ग्रन्थ के रचनाकाल के बारे में एकमत न हों, पर वे इस बात पर अवश्य सहमत हैं कि यह ग्रन्थ 'चरक संहिता' के बाद रचा गया।

चरक की काय-चिकित्सा द्वारा रोगी का उपचार चलते-फिरते कहीं भी किया जा सकता है, जबकि शल्य-चिकित्सा के लिए उचित उपकरण एवं अस्पताल अथवा चिकित्सा-कक्ष की आवश्यकता होती है। सुश्रुत ने अस्पताल के लिए 'व्रणितागार' शब्द का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अस्पताल की साफ-सफाई के बारे में विशेष जोर दिया है। इससे स्पष्ट है कि उन्हें गंदगी द्वारा होने वाले संक्रमण का भान रहा होगा।

सुश्रुत संहिता का संगठन : चरक संहिता की ही भाँति सुश्रुत संहिता की रचना भी संस्कृत भाषा में हुई है। सुश्रुत संहिता ग्रंथ मुख्य रूप से शल्य-चिकित्सा का ग्रंथ है। यह पाँच स्थानों (खण्डों) में विभक्त है। प्रथम स्थान में 46 अध्याय, द्वितीय स्थान में 16, तृतीय में 10, चतुर्थ में 40 एवं पंचम स्थान में 8 अध्याय हैं। इस प्रकार सुश्रुत संहिता में कुल 120 अध्याय हैं।

इन अध्यायों के अतिरिक्त सुश्रुत संहिता में एक परिशिष्ट खण्ड भी है, जिसे उत्तर-तंत्र का नाम दिया गया है। इस खण्ड के अन्तर्गत 66 अध्यायों में काय-चिकित्सा का वर्णन किया गया है। इस तरह यदि शल्य-चिकित्सा और काय-चिकित्सा के सभी अध्यायों को जोड़ दिया जाए, तो सुश्रुत संहिता 186 अध्यायों वाले एक वृहद ग्रन्थ के रूप में हमारे सामने आता है। कुछ विद्वानों का मत है कि बाद में 'रस रत्नाकर' के रचनाकार नागार्जुन ने सुश्रुत संहिता का सम्पादन किया तथा उसमें स्वयं द्वारा रचित 'उत्तर तंत्र' सम्मिलित कर दिया। लेकिन ज्यादातर विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं।

सुश्रुत संहिता ग्रंथ में शल्य-चिकित्सा के उपयोगी यंत्रों और शस्त्रों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। यंत्र भालेनुमा आकृति के औजार हैं, जो टूटी हुई हड्डियों एवं अवाहित माँस को बाहर निकालने हेतु उपयोग में लाए जाते थे। इन यंत्रों

की कुल संख्या 101 बताई गयी है। उन्होंने इन यंत्रों को मुख्य रूप से छह श्रेणियों में विभक्त किया है। सुश्रुत संहिता के अनुसार वे इस प्रकार से हैं—

1. **स्वस्तिकयंत्र** : ये यंत्र क्रॉस अथवा स्वस्तिक के आकार जैसे होते थे, इसलिए इन्हें स्वस्तिक यंत्र कहा गया। इनकी संरचना कुछ-कुछ जंगली जानवरों और पक्षियों के मुंह जैसी लगती थी। इसीलिए इनके नाम जानवरों/पक्षियों के नाम पर ही रखे गये थे। जैसे—सिंहमुख, व्याघ्रमुख, काकमुख, मार्जारमुख एवं गृध्रमुख। ये यंत्र टूटी हुई हड्डियाँ निकालने के लिए उपयोग में लाए जाते थे। सुश्रुत संहिता में इनकी संख्या 24 बताई गयी है।
2. **संदंशयंत्र** : जो यंत्र शरीर की त्वचा, माँस अथवा सिरा को निकालने के काम आते हैं, उन्हें संदंशयंत्र कहा गया है। ये यंत्र देखने में संड़ासी के समान होते थे। इनकी कुल संख्या 2 बताई गयी है।
3. **तालयंत्र** : कान और नाक की हड्डियों का अण्डाकार तणा बनावट शेष शरीर की हड्डियों से भिन्न होने के कारण शल्य क्रिया में उनके लिए अलग यंत्रों की आवश्यकता होती है। सुश्रुत ने ऐसे यंत्रों को तालयंत्र का नाम दिया है। इनकी संख्या 2 बताई गयी है।
4. **नाड़ीयंत्र** : नाड़ीयंत्र नली के समान होते थे। इनसे विभिन्न प्रकार के काम लिये जाते थे। सुश्रुत संहिता में इनकी संख्या 20 बताई गयी है।
5. **शलाकायंत्र** : शलाकायंत्र एक प्रकार की सलाइयों को कहा गया है, जो शल्य क्रिया के दौरान माँस को खोदने अथवा किसी अंग विशेष को भेदने के काम में प्रयुक्त होती थी। ये कुल 28 प्रकार के बताए गये हैं।
6. **उपयंत्र** : सुश्रुत संहिता में उपयंत्रों की कुल संख्या 25 बताई गयी है। शल्य क्रिया के दौरान इनसे विभिन्न प्रकार के कार्य लिये जाते थे।

शल्य क्रिया को भलीभाँति सम्पन्न करने के लिए सुश्रुत संहिता में 20 प्रकार के शस्त्रों का वर्णन मिलता है। ये उत्तम लौह धातु के बनाए जाते थे और काफी धारदार होते थे। इनसे काटने का काम लिया जाता था। इन तमाम यंत्रों और शस्त्रों के साथ-साथ सुश्रुत ने अनेक प्रकार के 'अनुशस्त्रों' का भी वर्णन किया है। ये बाँस, चमकीली धातु, काँच, बाल एवं जानवरों के नाखूनों के बने होते थे।

शल्य क्रिया में घावों और त्वचा को सिलते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। इसके लिए सुश्रुत ने बारीक सूत, सन, रेशम, बाल आदि का प्रयोग करने की सलाह दी है। घावों की सिलाई की ही भाँति उन्होंने पट्टी बाँधने के लिए सन, ऊन रेशम, कपास, पेड़ों की छाल आदि को उपयुक्त बताया है।

सुश्रुत संहिता में 'युक्तसेनीय' नामक एक विशेष अध्याय है, जिसमें घायल सैनिकों के उपचार की विधि बताई गयी है। चूँकि उस समय दो राजाओं के बीच युद्ध की घटनाएँ प्रायः होती रहती थी, इसलिए सुश्रुत ने इस अध्याय की रचना अलग से की थी। उनका कहना था कि राजाओं को अपनी सेना की देखभाल के लिए कुशल वैद्यों की नियुक्ति करनी चाहिए। सुश्रुत ने शल्य क्रिया के अन्तर्गत भेद्यकर्म, छेद्यकर्म, लेख्यकर्म, वेद्यकर्म, एस्यकर्म, अहर्यकर्म, विस्वर्यकर्म एवं सिय्यकर्म का जिक्र किया है। उनका मानना है कि विद्यार्थियों को शल्य क्रिया में पारंगत होने के लिए इनसे जुड़े हुए विभिन्न प्रयोग करते रहने चाहिए।

उन्होंने छेद्यकर्म के अभ्यास के लिए कुम्हड़ा, लौकी, तरबूज, ककड़ी आदि फलों को काटकर खाने की सलाह दी है। उन्होंने बताया है कि भेद्यकर्म के लिए मशक अथवा चमड़े के किसी थैले में पानी/कीचड़ भरकर अभ्यास किया जाना चाहिए। लेख्यकर्म को सीखने के लिए उन्होंने किसी मरे हुए जानवर के बालयुक्त चमड़े को खुरचने की सलाह दी है। इसी प्रकार वेद्यकर्म सीखने के लिए उन्होंने मरे हुए जानवर की सिरा/कमल को काटकर अभ्यास करने की आवश्यकता बताई है। अपने ग्रन्थ में उन्होंने इसी प्रकार घावों को सिलने, पट्टियाँ बाँधने आदि के बारे में अभ्यास के विभिन्न तरीकों का वर्णन किया है।

प्लास्टिक सर्जरी के पिता (Father of Plastic Surgery) : रामायण की कथा में लक्ष्मण द्वारा सूर्यणखा की नाक

काट लेने का प्रसंग मिलता है। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में सजा के तौर पर 'नाक काटने' का प्रचलन था। नाक चेहरे का महत्वपूर्ण अंग है। उसके कट जाने के बाद चेहरा अत्यंत कुरूप लगने लगता है। संभवतः इसीलिए बेइज्जती के लिए 'नाक कटने' का मुहावरा प्रचलित हुआ। ऐसा माना जाता है कि सुश्रुत ने जब किसी व्यक्ति की कटी नाक को देखा होगा, तो उनके मन में चेहरे से कुछ माँस लेकर कृत्रिम नाक बनाने का विचार आया होगा। इसी तरह के विचार से प्रेरित होकर उन्होंने प्लास्टिक सर्जरी की शुरुआत की थी। इसीलिए उन्हें प्लास्टिक सर्जरी का पिता (Father of Plastic Surgery) भी माना जाता है।

सुश्रुत संहिता में नाक, कान और होंठ की प्लास्टिक सर्जरी का अनेक जगह पर जिक्र मिलता है। इससे स्पष्ट है कि शल्य-चिकित्सा के इस अंग की शुरुआत भारत में हुई तथा अरबों के माध्यम से शेष विश्व में पहुंची। 'सुश्रुत संहिता' का सबसे पहला अनुवाद आठवीं शताब्दी में अरबी भाषा में हुआ था, जोकि 'किताब-ए सुसरुद' के रूप में काफी प्रसिद्ध हुआ।

योग्य शिक्षक (Ideal Teacher): एक श्रेष्ठ शल्य चिकित्सक होने के साथ-साथ सुश्रुत एक योग्य आचार्य भी थे। उन्होंने शल्य चिकित्सा के प्रचार-प्रसार के लिए अनेकानेक शिष्यों को शल्य चिकित्सा के सिद्धांत बताये। वे अपने विद्यार्थियों को शल्य-चिकित्सा का ज्ञान देने के लिए प्रारंभिक अवस्था में फलों, सब्जियों और मोम के पुतलों का उपयोग करते थे। किन्तु उनके शिष्य व्यावहारिक ज्ञान के दृष्टिकोण से अल्पज्ञानी न रह जाँ, इसके लिए वे शव-विच्छेदन का भी सहारा लेते थे। सुश्रुत ने वैद्य का दर्जा माता-पिता के समान माना है। उनका कहना है कि जिस प्रकार माता-पिता निःस्वार्थ भाव से अपने पुत्र का पालन करते हैं, उसी प्रकार वैद्य को भी निःस्वार्थ भाव से रोगी की सेवा करनी चाहिए। इस मनोभाव को उन्होंने एक श्लोक के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है :

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः ।

अप्येतानभिशंकेत वैद्ये विश्वासमेति च ॥

विसृजत्यात्मनात्मानं न चैनं परिशंकेत ।

तस्मात्पुत्रवदेनैनं पायलेदातुरं भिषक् ॥

(रोगी अपने माता-पिता, भाई और सम्बंधियों को भी शंकालु दृष्टि से देख सकता है, किन्तु वह वैद्य के ऊपर सम्पूर्ण विश्वास करता है। वह स्वयं को वैद्य के हाथों में सौंप देता है और उस पर जरा भी शंका नहीं करता। इसलिए वैद्य का भी यह कर्तव्य होता है कि वह रोगी की देखभाल अपने पुत्र की तरह से करे।)

□ प्राचीन भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी उपलब्धियों का वर्णन करें।

उत्तर :

प्राचीन भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी (ANCIENT INDIAN SCIENCE AND TECHNOLOGY)

भारत में वैज्ञानिक अनुसंधानों और आविष्कारों की परंपरा आदिकाल से चली आ रही है। जिस समय यूरोप में घुमक्कड़ जनजातियाँ बस रही थीं उस समय सिंधु घाटी के लोग सुनियोजित नगर बसाकर रहते थे। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, लोथल चंडुदड़ों, बनावली, सुरकोटड़ा आदि स्थानों पर हुई खुदाई में मिले नगरों के खंडहर इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन नगरों के भवन, सड़कें, नालियाँ, स्नानागार, कोठार आदि पक्की ईंटों से बने थे। यहाँ के निवासी जहाजों द्वारा विदेश से व्यापार करते थे। माप-तौल का ज्ञान उन्हें था। परिवहन के लिए बैलगाड़ी का उपयोग होता था। कृषि उन्नत अवस्था में थी। वे काँसे का उपयोग करते थे। काँसे के बने हथियार और औजार इसका प्रमाण है। सुनार सोने, चाँदी और बहुमूल्य रत्नों के आभूषण बनाते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि ये लोग रत्न विद्या में पारंगत थे। कठोर रत्नों को काटने, गढ़ने, छेद करने के लिए उनके पास उन्नत कोटि के उपकरण थे। वे लौह ऊनी और सूती वस्त्र बनाना जानते थे। इन लोगों

की संस्कृति को इतिहासकार हड़प्पा संस्कृति के नाम से जानते हैं। भारत में वैदिक काल में लोग खगोल विज्ञान का अच्छा ज्ञान रखते थे। वैदिक भारतीयों को 27 नक्षत्रों का ज्ञान था। वे वर्ष, महीनों और दिनों के रूप में समय के विभाजन से परिचित थे। 'लगध' नाम के ऋषि ने 'ज्योतिष वेदांग' में तत्कालीन खगोलीय ज्ञान को व्यवस्थित कर दिया था।

गणित और ज्यामिति का वैदिक युग में पर्याप्त विकास हुआ था। वैदिककालीन भारतीय 10^{12} तक गिन सकते थे। इसके विपरीत उसी कालखंड में यूनानी केवल 10^4 तक और रोमवासी 10^8 तक गणना कर सकते थे।

वैदिक युग की विशिष्ट उपलब्धि चिकित्सा के क्षेत्र में थी। मानव शरीर के सूक्ष्म अध्ययन के लिए वे शव विच्छेदन (पोस्ट मार्टम) प्रक्रिया का कुशलता से उपयोग करते थे। प्राकृतिक जड़ी-बूटियों और उनके औषधीय गुणों के बारे में लोगों को विशद ज्ञान था। तत्कालीन चिकित्सक स्नायुतंत्र और सुषुम्ना (रीढ़ की हड्डी) के महत्व से भली-भाँति परिचित थे।

मौसम-परिवर्तन, शरीर में सूक्ष्मजीवों की उपस्थिति तथा रोग पैदा करने वाले आनुवंशिक कारकों आदि के सिद्धांतों को यहाँ से मान्यता प्राप्त थी। आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति का बहुतायत में उपयोग होता था। आवश्यकता पड़ने पर शल्य-चिकित्सा भी की जाती थी। बाद में तो अरबों तथा यूनानियों ने भी शल्य-चिकित्सा को अपनाया। फिर तो रोम साम्राज्य में भारतीय जड़ी-बूटियों की भी माँग चिकित्सा के क्षेत्र में होने लगी। उसी समय वनस्पतियों और जंतुओं की बाह्य तथा आंतरिक संरचनाओं के अध्ययन भी किए गए। कृषि के क्षेत्र में मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए फसल चक्र की पद्धति तब भी अपनाई जाती थी। भारत में वैज्ञानिक प्रगति का स्वर्ण काल ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद छठी या सातवीं शताब्दी तक रहा। धातु-कर्म, भौतिकी, रसायन-शास्त्र जैसे विज्ञानों का विकास भी इस युग में हुआ था। मौर्यकाल में युद्ध के लिए अस्त्रों और शस्त्रों का विकास किया गया था। कुछ यांत्रिक अस्त्रों, जैसे—प्रक्षेपकों का विकास तथा सिंचाई में अभियांत्रिकी का उपयोग उल्लेखनीय है। इस काल में भू-सर्वेक्षण की तकनीक अत्यंत विकसित थी। विशालकाय प्रस्तर स्तंभों के निर्माण में अनेक प्रकार के वैज्ञानिक कौशलों का उपयोग इस युग की एक अन्य विशेषता है। इसके बाद गुप्तकाल में विज्ञान की सभी शाखाओं में उल्लेखनीय प्रगति हुई बीजगणित, ज्यामिति, रसायन शास्त्र, भौतिकी, धातुशिल्प, चिकित्सा, खगोल विज्ञान का विकास चरम सीमा पर था। इस युग में अनेक ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक हुए जिनके अनुसंधानों और आविष्कारों का लोहा तत्कालीन सभ्य समाज के लोग मानते थे।

प्राचीन भारतीय विज्ञान की उपलब्धियाँ

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों और उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

प्राचीन भारतीय विज्ञान की उपलब्धियाँ

1. → खगोल विज्ञान
2. → गणित
3. → चिकित्सा
4. → भौतिकी
5. → रसायन विज्ञान
6. → धातु विज्ञान
7. → रत्न विज्ञान

1. **खगोल विज्ञान :** यह विज्ञान भारत में ही विकसित हुआ। प्रसिद्ध जर्मन खगोल विज्ञानी कॉपरनिकस से लगभग 1000 वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने पृथ्वी की गोल आकृति और इसके अपनी धुरी पर घूमने की पुष्टि कर दी थी। इसी तरह आइज़ैक न्यूटन से 1000 वर्ष पूर्व ही ब्रह्मगुप्त ने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत की पुष्टि कर दी थी। यह एक अलग बात है कि किन्हीं कारणों से इनका श्रेय पाश्चात्य वैज्ञानिकों को मिला।

भारतीय खगोल विज्ञान का उद्भव वेदों से माना जाता है। वैदिककालीन भारतीय धर्मप्राण व्यक्ति थे। वे अपने यज्ञ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान ग्रहों की स्थिति के अनुसार शुभ लग्न देखकर किया करते थे। शुभ लग्न जानने के लिए उन्होंने खगोल विज्ञान का विकास किया था। वैदिक आर्य सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गति से परिचित थे। वैदिककालीन खगोल विज्ञान का एक मात्र ग्रंथ 'वेदांग ज्योतिष' है। इसकी रचना 'लगध' नामक ऋषि ने ईसा से लगभग 100 वर्ष पूर्व की थी।

महाभारत में भी खगोल विज्ञान से संबंधित जानकारी मिलती है। महाभारत में चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण की चर्चा है। इस काल के लोगों को ज्ञात था कि ग्रहण केवल अमावस्या और पूर्णिमा को ही लग सकते हैं। इस काल के लोगों का ग्रहों के विषय में भी अच्छा ज्ञान था। 'वेदांग ज्योतिष' के बाद लगभग एक हजार वर्षों तक खगोल विज्ञान का कोई ग्रंथ नहीं मिलता।

पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम लोगों को बताया कि पृथ्वी गोल है और यह अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है। उन्होंने पृथ्वी के आकार, गति और परिधि का अनुमान भी लगाया था। आर्यभट्ट ने सूर्य और चंद्र ग्रहण के सही कारणों का पता लगाया। उनके अनुसार चंद्रमा और पृथ्वी की परछाई पड़ने से ग्रहण लगता है। चंद्रमा में अपना प्रकाश नहीं है, वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। इसी प्रकार आर्यभट्ट ने राहु-केतु द्वारा सूर्य और चंद्र को ग्रस लेने के सिद्धांत का खंडन किया और ग्रहण का सही वैज्ञानिक सिद्धांत प्रतिपादित किया। आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' तथा 'आर्य सिद्धांत' नामक ग्रंथों की रचना की थी।

आर्यभट्ट के बाद छठी शताब्दी में वराहमिहिर नाम के खगोल वैज्ञानिक हुए। विज्ञान के इतिहास में वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा कि कोई ऐसी शक्ति है जो वस्तुओं को धरातल से बाँधे रखती है। आज इसी शक्ति को गुरुत्वाकर्षण कहते हैं। वराहमिहिर का कहना था कि पृथ्वी गोल है, जिराके धरातल पर पहाड़, नदियाँ, पेड़-पौधे, नगर आदि फैले हुए हैं। 'पंचसिद्धांतिका' और 'सूर्य सिद्धांत' उनकी खगोल विज्ञान संबंधी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' और 'बृहज्जातक' नाम की पुस्तकें भी लिखी हैं।

इसके बाद भारतीय खगोल विज्ञान में ब्रह्मगुप्त का भी काफी महत्वपूर्ण योगदान है। इनका कार्यकाल सातवीं शताब्दी से माना जाता है। वे खगोल विज्ञान संबंधी गणनाओं में संभवतः बीजगणित का प्रयोग करने वाले भारत के सबसे पहले महान गणितज्ञ थे। 'ब्रह्मगुप्त सिद्धांत' इनका प्रमुख ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त जीवन के अंतिम वर्षों में ब्रह्मगुप्त ने 'खंड खाद्यक' नामक ग्रंथ भी लिखा था। इन्होंने विभिन्न ग्रहों की गति और स्थिति, उनके उदय और अस्त, युति तथा सूर्य ग्रहण की गणना करने की विधियों का वर्णन किया है। ब्रह्मगुप्त का ग्रहों का ज्ञान प्रत्यक्ष वेध (अवलोकन) पर आधारित था। इनका मानना था कि जब कभी गणना और वेध में अंतर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिए। ये पृथ्वी को गोल मानते थे तथा पुराणों में पृथ्वी को चपटी मानने के विचार की इन्होंने कड़ी आलोचना की है। ब्रह्मगुप्त आर्यभट्ट के अनेक सिद्धांतों के साथ पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के सिद्धांत के भी आलोचक थे। ब्रह्मगुप्त पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के सिद्धांत से सहमत थे। उनके अनुसार, वस्तुएँ पृथ्वी की ओर गिरती हैं क्योंकि पृथ्वी की प्रकृति है कि वह उन्हें अपनी ओर आकर्षित करे।

ब्रह्मगुप्त के बाद खगोल विज्ञान में भास्कराचार्य का विशिष्ट योगदान है। इनका समय बारहवीं शताब्दी था। वे गणित के प्रकांड पंडित थे। इन्होंने 'सिद्धांत शिरोमणि' और 'करण कुतुहल' नामक दो ग्रंथों की रचना की थी। खगोलविद् के रूप में भास्कराचार्य अपनी 'तात्कालिक गति' की अवधारणा के लिए प्रसिद्ध हैं। इससे खगोल वैज्ञानिकों को ग्रहों की गति का सही ज्ञान प्राप्त करने में मदद मिलती है।

भास्कर ने एक तो गोले की सतह और उसके घनफल को निकालने के जर्मन ज्योतिर्विद् केपलर के नियम का पूर्वाभ्यास कर लिया था। दूसरे, उन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में जन्मे आइजैक न्यूटन से लगभग 500 वर्ष पूर्व गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया था।

2. गणित : अधिकतर खोज और अविष्कार, जिन पर आज यूरोप को इतना गर्व है, एक विकसित गणितीय पद्धति के बिना असंभव थे। यह पद्धति भी संभव नहीं हो पाती यदि यूरोप भारी-भरकम रोमन अंकों के बंधन में जकड़ा होता। नई पद्धति को खोज निकालने वाला वह अज्ञात व्यक्ति भारत का पुत्र था। मध्ययुगीन भारतीय गणितज्ञों, जैसे—ब्रह्मगुप्त (सातवीं शताब्दी), महावीर (नवीं शताब्दी) और भास्कर (बारहवीं शताब्दी) ने ऐसी कई खोजें की, जिनसे पुनर्जागरण काल या उसके बाद तक भी यूरोप अपरिचित था। इसमें कोई मतभेद नहीं कि भारत में गणित की उच्चकोटि की परंपरा थी। इसका विस्तार से वर्णन इस प्रकार है—

(i) अंकगणित : हड़प्पाकालीन संस्कृति के लोग अवश्य ही अंकों और संख्याओं से परिचित रहे होंगे। इस युग की लिपि को अब तक न पढ़े जा सकने के कारण निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन भवनों, सड़कों, नालियों, स्नानागारों आदि के निर्माण में अंकों और संख्याओं का निश्चित रूप से उपयोग हुआ होगा क्योंकि माप-तौल और व्यापार बिना अंकों और संख्याओं के संभव नहीं था। हड़प्पाकालीन संस्कृति की लिपि के पढ़े जाने के बाद निश्चित ही अनेक नए तथ्य उद्घाटित होंगे।

इसके बाद वैदिककालीन भारतीय अंकों और संख्याओं का उपयोग करते थे। वैदिक युग के एक ऋषि मेधातिथि 10^{12} तक की बड़ी संख्याओं से परिचित थे। वे अपनी गणनाओं में दस और इसके गुणकों का उपयोग करते थे। 'यजुर्वेद संहिता' अध्याय 17, मंत्र 2 में 10,00,00,00,00,000 (एक पर बारह शून्य, दस खरब) तक की संख्या का उल्लेख है। ईसा से 100 वर्ष पूर्व का जैन ग्रंथ 'अनुयोग द्वार सूत्र' है। इसमें असंख्य तक गणना की गई है, जिसका परिमाण 10^{140} के बराबर है। उस समय यूनान में बड़ी-से-बड़ी संख्या का नाम मिरियड (Myriad) था, जो 10,000 (दस सहस्र) थी और रोम के लोगों की बड़ी-से-बड़ी संख्या का नाम मिल्ली (Mille) था जो 1000 (सहस्र) थी। शून्य का उपयोग पिंगल ने अपने 'छंदः सूत्र' में ईसा के 200 वर्ष पूर्व किया था। इसके बाद तो शून्य का उपयोग अनेक ग्रंथों में किया गया है। लेकिन ब्रह्मगुप्त (छठी शताब्दी) पहले भारतीय गणितज्ञ थे जिन्होंने शून्य को प्रयोग में लाने के नियम बनाए। इनके अनुसार—

- शून्य को किसी संख्या से घटाने या उसमें जोड़ने पर उस संख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
- शून्य से किसी संख्या का गुणनफल भी शून्य होता है।
- किसी संख्या को शून्य से विभाजित करने पर उसका परिणाम अनंत होता है।
- उन्होंने यह गलत कहा कि शून्य से विभाजित करो तो परिणाम शून्य होता है। क्योंकि आज हम जानते हैं कि यह अनंत की संख्या होती है। अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि संसार को संख्याएँ लिखने की आधुनिक प्रणाली भारत ने ही दी है।

(ii) ज्यामिति : ज्यामिति का ज्ञान हड़प्पाकालीन संस्कृति के लोगों को भी था। ईंटों की आकृति, भवनों की आकृति, सड़कों का समकोण पर काटना इस बात का द्योतक है कि उस काल के लोगों को ज्यामिति का ज्ञान था। वैदिक काल में आर्य यज्ञ की वेदियों को बनाने के लिए ज्यामिति के ज्ञान का उपयोग करते थे। 'शुल्ब सूत्र' में वर्ग और आयत बनाने की विधि दी हुई है। भुजा के संबंधों को लेकर वर्ग के समान आयत, वर्ग के समान वृत्त आदि प्रश्नों पर इस ग्रंथ में विचार किया गया है। किसी त्रिकोण के बराबर वर्ग खींच कर ऐसा वर्ग बनाना जो किसी वर्ग का दो गुणा, तीन गुणा अथवा एक तिहाई हो, ऐसा वर्ग बनाना जिसका क्षेत्रफल उपस्थित वर्ग के क्षेत्र के बराबर हो, इत्यादि की रीतियाँ भी 'शुल्ब सूत्र' में दी गई हैं। आर्यभट्ट ने वृत्त की परिधि और व्यास के अनुपात (पाई— π) का मान 3.1416 स्थापित किया है। उन्होंने पहली बार कहा कि यह पाई का सन्निकट मान है।

(iii) त्रिकोणमिति : त्रिकोणमिति के क्षेत्र में भारतीयों ने जो काम किया, वह अनुपमय और मौलिक है। इन्होंने ज्या, कोटिज्या और उत्कमज्या का आविष्कार किया। वराहमिहिर कृत 'सूर्य सिद्धान्त' (छठी शताब्दी) में त्रिकोणमिति का जो विवरण है, उसका ज्ञान यूरोप को ब्रिग्स के द्वारा सोलहवीं शताब्दी में मिला। ब्रह्मगुप्त (सातवीं शताब्दी) ने भी त्रिकोणमिति पर लिखा है और एक ज्या सारणी भी दी है।

(iv) बीजगणित : भारतीयों ने बीजगणित में भी बड़ी दक्षता प्राप्त की थी। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, श्रीधराचार्य आदि प्रसिद्ध गणितज्ञ थे। बीजगणित के क्षेत्र में सबसे बड़ी उपलब्धि है—अनिवार्य वर्ग समीकरण का हल प्रस्तुत करना। पाश्चात्य गणित के इतिहास में इस समीकरण के हल का श्रेय जॉन पेल् (1688 ई.) को दिया जाता है और इसे 'पेल् समीकरण' के नाम से ही जाना जाता है, परंतु वास्तविकता यह है कि पेल् से एक हजार वर्ष पूर्व ब्रह्मगुप्त ने इस समीकरण का हल प्रस्तुत कर दिया था। इसके लिए ब्रह्मगुप्त ने दो प्रमेयकाओं की खोज की थी। अनिवार्य वर्ग समीकरण के लिए भारतीय नाम वर्ग-प्रकृति है।

3. चिकित्सा : भारत में चिकित्सा विज्ञान की सुदीर्घ परंपरा है। चिकित्सा शास्त्र को वेद तुल्य सम्मान दिया गया है। यही कारण है कि भारतीय चिकित्सा पद्धति को आयुर्वेद की संज्ञा से अभिनिहित किया जाता है। भारतीय चिकित्सा पद्धति के विषय में सर्वप्रथम लिखित ज्ञान 'अथर्ववेद' में मिलता है। अथर्ववेद में विविध रोगों के उपचारार्थ प्रयोग किए जाने संबंधी भैषज्य सूत्र संकलित हैं। इन सूत्रों में विभिन्न रोगों के नाम तथा उनके निराकरण के लिए विभिन्न प्रकार की औषधियों के नाम भी दिए गए हैं। जल चिकित्सा, सूर्य किरण चिकित्सा और मानसिक चिकित्सा के विषयों पर इसमें विस्तृत विवरण मिलता है। अथर्ववेद के बाद ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व काय चिकित्सा पर 'चरक संहिता' और शल्य चिकित्सा पर 'सुश्रुत संहिता' मिलती है। ये चिकित्सा शास्त्र के प्रामाणिक और विश्वविख्यात ग्रंथ हैं।

(i) चरक संहिता : महर्षि चरक को काय चिकित्सा का प्रथम ग्रंथ लिखने का श्रेय दिया जाता है। 'चरक संहिता' को औषधीय शास्त्र में आयुर्वेद पद्धति का आधार माना जाता है। आयुर्वेद का अर्थ है—'जीवन का शास्त्र'। चरक संभवतः इस बात को जानते थे कि शरीर में हृदय एक मुख्य अवयव है। उन्हें शरीर में रक्त संचार क्रिया का भी ज्ञान था। वे यह भी जानते थे कि कुछ बीमारियाँ ऐसे कीटाणुओं के कारण होती हैं जिन्हें हम अपनी आँखों से सीधा नहीं देख सकते। 'चरक संहिता' में तत्कालीन प्रशिक्षित चिकित्सकों और चिकित्सालयों का भी विवरण मिलता है। चरक पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने चयापचय, पाचन और शरीर प्रतिरक्षा के बारे में बताया। 'चरक संहिता' में शरीर विज्ञान, निदान शास्त्र और भ्रूण विज्ञान के विषय में जानकारी मिलती है। चरक को आनुवंशिकी के मूल सिद्धांतों का भी ज्ञान था। उन्हें उन कारणों का पता था जिससे बच्चे का लिंग निश्चित होता है। 'चरक संहिता' का अनुवाद अनेक विदेशी भाषाओं में हुआ है।

(ii) सुश्रुत संहिता : सुश्रुत रचित यह ग्रंथ भारतीय शल्य चिकित्सा पद्धति का विश्वविख्यात ग्रंथ है। इस संहिता में सुश्रुत ने अपने से पहले के शल्य चिकित्सकों के ज्ञान और अनुभवों को संकलित कर एक व्यवस्थित रूप दिया है। अपनी संहिता में उन्होंने लिखा है कि चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी मृत शरीर के विच्छेदन से अपने कार्य में कुशल बनते हैं। सुश्रुत के अनुसार, शव विच्छेदन एक प्रक्रिया है। सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा के लिए 101 उपकरणों की सूची भी दी है। उनका कहना था कि इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार स्वयं भी उपकरण तैयार करने चाहिए। उनकी सूची में चिमटियाँ, चाकू, सुइयाँ, सलाइयाँ तथा नलिका आकृति के वे सब उपकरण हैं जिनका प्रयोग आज के शल्य चिकित्सक करते हैं। शल्य चिकित्सा से पहले उपकरणों को गर्म करके कीटाणु रहित करने की बात भी उन्होंने कही है। सुश्रुत भूज नलिका में पाए जाने वाले पत्थर निकालने में, टूटी हड्डियों को जोड़ने और मोतियाबिंद की शल्य चिकित्सा में बहुत दक्ष थे। सुश्रुत को पूरे संसार में आज प्लास्टिक सर्जरी का जनक कहा जाता है। सुश्रुत संहिता में नाक, कान और ओंठ की प्लास्टिक सर्जरी का पूरा विवरण दिया गया है। चरक और सुश्रुत की ही परंपराओं को अनेक सुप्रसिद्ध चिकित्सकों ने आगे बढ़ाया। महर्षि अजेय ने नाड़ी और श्वास की गति पर प्रकाश डाला। महर्षि पतंजलि ने योग से शरीर को निरोग रखने

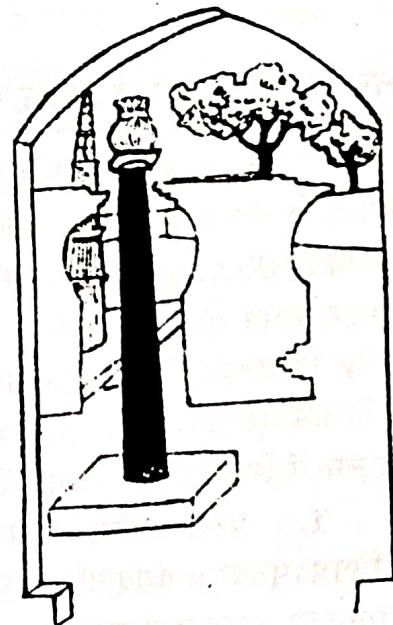
के उपाय बताए। आधुनिक चिकित्सक भी अब हृदय के रोगों के लिए योग का सहारा लेते हैं। आचार्य जीवक भगवान बुद्ध के चिकित्सक थे। उन्होंने अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा की विधियाँ बताई हैं। वृद्धजय में गिने जाने वाले वाग्भट्ट ने 'अष्टांग संग्रह' और 'अष्टांग हृदय संहिता' की रचना की थी। इनमें आयुर्वेद का संपूर्ण ज्ञान समाहित हो गया है। माधवाकर रोग निदान और रोग लक्षणों पर प्रकाश डालने वाले पहले आचार्य थे। 'चरक संहिता' के संपादक वृद्धबल तथा 'भावप्रकाश' के लेखक भावमिश्र चिकित्सा जगत के महान आचार्य थे।

(iii) पशु चिकित्सा : भारत में पशु चिकित्सा विज्ञान भी काफी विकसित था। घोड़ों, हाथियों, गाय-बैलों की चिकित्सा से संबंधित अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। शालिहोत्र नामक पशु चिकित्सक के 'हय आयुर्वेद', 'अश्व लक्षण शास्त्र' तथा 'अश्व प्रशंसा' नाम के तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनमें घोड़ों के रोगों और उनके उपचार के लिए औषधियों का विवरण है। इन ग्रंथों के अनुवाद अनेक विदेशी भाषाओं में हुए। पालकप्य के 'हरित-आयुर्वेद' में हाथियों की शरीर रचना तथा उनके रोगों का विवरण, उनके रोगों की शल्य क्रिया और औषधियों द्वारा चिकित्सा देखभाल और आहार का विवरण मिलता है।

4. भौतिकी : प्राचीन काल में भारत में अन्य विज्ञानों के साथ-साथ भौतिकी का भी प्रचलन था। कणाद ऋषि ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व ही इस बात को सिद्ध कर दिया था कि विश्व का हर पदार्थ परमाणुओं से मिलकर बना है। उन्होंने परमाणुओं की संरचना, प्रवृत्ति तथा प्रकारों की चर्चा की है।

5. रसायन विज्ञान : भारत में रसायन विज्ञान की भी बहुत पुरानी परंपरा है। प्राचीन तथा मध्य काल में संस्कृत भाषा में लिखित रसायन विज्ञान के 44 ग्रंथ उपलब्ध हैं। नागार्जुन (दसवीं शताब्दी) ने रसायन विज्ञान पर 'रस रत्नाकर' नामक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में पारे के यौगिक बनाने के प्रयोग दिए गए हैं। चाँदी, सोना, टिन और ताँबे के अयस्क भूगर्भ से निकालने और उन्हें शुद्ध करने की विधियों का विवरण भी दिया गया है। नागार्जुन पारे से संजीवनी बनाने के लिए पशुओं और वनस्पति के तत्वों तथा अम्ल और खनिजों का उपयोग करते थे। वनस्पति निर्मित तेजाबों में वे हीरे, धातु और मोती गला लेते थे। नागार्जुन ने रसायन विज्ञान में काम आने वाले उपकरणों का विवरण भी दिया है। इस ग्रंथ में आसवन, द्रवण, उर्ध्वपातन और भूने का भी वर्णन है। नागार्जुन के अतिरिक्त भारत के महान रसायनशास्त्री वृंद का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने औषधि रसायन पर 'सिद्ध योग' नामक ग्रंथ की रचना की है। इसमें विभिन्न रोगों के उपचार के लिए धातुओं के मिश्रण का विवरण दिया गया है। भारत में रसायन शास्त्रियों ने पहली और दूसरी शताब्दी तक ही कई रासायनिक फॉर्मूले खोज लिए थे। पारद (पारा) के यौगिक, अकार्बनिक लवण तथा मिश्र धातुओं के प्रयोग और मसालों से कई प्रकार के इत्र बनाए जाते थे।

6. धातु विज्ञान : भारत में हड़प्पाकालीन संस्कृति के समय से ही अनेक धातुओं का उपयोग होता आ रहा है। धातुओं को प्राप्त करने के लिए कई विज्ञानों का सहारा लेना पड़ता है। धातुओं के अयस्कों की खोज के लिए भू-विज्ञान में दक्षता अनिवार्य है। अयस्कों से धातु निकालने तथा उन्हें मिश्रित धातु बनाने के लिए रसायन विज्ञान और धातु विज्ञान की दक्षता अपेक्षित है। भारत को प्राचीन काल से ही इन सभी विज्ञानों में दक्षता प्राप्त है। धातु विज्ञान में भारत की दक्षता उच्च कोटि की थी। ईसा पूर्व 326 ई. में पोरस ने 30 पौंड वजन का भारतीय इस्पात सिकंदर को भेंट में दिया। एक राजा दूसरे राजा को अनुपमेय, दुर्लभ और अति विशिष्ट वस्तुएँ ही भेंट किया करते थे। भारतीय इस्पात ऐसी ही अति विशिष्ट वस्तु थी। उस काल में भारतीय इस्पात इतनी उच्च कोटि का होता था कि विशेष प्रकार के औजार और अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए तत्कालीन सभ्य देशों में उसकी बहुत माँग थी।



चित्र : कुतुब मीनार परिसर में लौह स्तंभ

दिल्ली के महरौली इलाके में कुतुबमीनार के निकट खड़ा लौह स्तंभ (चौथी शताब्दी) 1700 वर्षों से सर्दी, गर्मी और बरसात सहकर भी जंगविहीन बना हुआ है। यह भारत के उत्कृष्ट लौहकर्म का नमूना है। महरौली के लौह स्तंभ जैसा ही लगभग 7.5 मीटर ऊँचा एक प्राचीन लौह स्तंभ कर्नाटक की पर्वत शृंखलाओं में खड़ा है। इस पर भी जंग का कोई प्रभाव नहीं हुआ है। यही नहीं, उड़ीसा के कोणार्क मंदिर (तेरहवीं शताब्दी) में लगभग 10.5 मीटर लंबा तथा 90 टन के भार वाला लोहे का स्तंभ भी आज तक जंगविहीन है। यही नहीं, इतने भारी स्तंभ को ढालकर बनाना ही भारत की मध्य कालीन प्रणाली की विस्मयकारी उपलब्धि है। लोहा ही नहीं सोना, चांदी, ताँबा, टिन, जस्ता जैसी अनेक धातुओं के अयस्क खोजने तथा उन्हें गलाकर शुद्ध धातु प्राप्त करने में भारतीय वैज्ञानिकों को महारत हासिल थी। अनेक धातुओं की तो वे भस्म बनाकर उसे औषधि के रूप में प्रयोग करते हैं।

7. रत्न विज्ञान : भारत का रत्न विज्ञान भी उच्चकोटि का था। भारतीयों को वज्र (हीरा), मरफत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इंद्रनील, वैदर्य, ग्रंथशस्य, चंद्रकांत, सूर्यकांत, स्फटिक, पुलक, कर्कतन, पुष्पराग, ज्योतिरस, राज पट्ट, राजमय, सौगंधिक, जंज, शंख, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, तथक, सीस, पीलू, प्रवाल, गिरिवज, भुजंगमणि, वज्रमणि, हिट्टिम, पिंड, भ्रामर, उत्पल आदि रत्नों का ज्ञान था। इन रत्नों को भूमि या जल से निकालना, उन्हें आभूषणों में जड़े जाने योग्य बनाना, हमारे विज्ञान और अभियंत्रिकी दोनों का ही कमाल था। हीरा संसार में कठोरतम पदार्थ है। इसे काटने के लिए उपकरण भी प्राचीन काल में भारतीयों ने विकसित किए थे।

इनके अतिरिक्त जलयान निर्माण में मध्यकाल तक भारत यूरोप से आगे था। वस्त्र निर्माण में भारत ने असाधारण दक्षता प्राप्त की थी। शताब्दियों पहले भारत में कपड़े रंगने के लिए 100 से अधिक वनस्पति और खनिजों से प्राप्त रंगों का उपयोग होता था। विज्ञान की अन्य अनेक शाखाओं में भारत की उच्चकोटि की उपलब्धियाँ थीं। दसवीं शताब्दी के बाद विदेशी आक्रमणकारियों ने समस्त उत्तर भारत को पदाक्रांत कर दिया था। चारों ओर अव्यवस्था और अराजकता थी। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक अनुसंधान करने का किसे होश था। केवल दक्षिण भारत के कुछ भागों में वैज्ञानिक गतिविधियाँ चलती रहीं। अंग्रेजों के आगमन के बाद काफी समय तक छिटपुट लड़ाइयाँ चलती रहीं। अंग्रेजों का लगभग पूरे भारत पर आधिपत्य हो जाने के बाद विज्ञान के क्षेत्र में कुछ भारतीयों ने महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की।

□ भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के इतिहास के विभिन्न स्रोतों का परिचय दीजिए।

□ कृषि के आरंभ एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास में उसके योगदान की विवेचना कीजिए।

अथवा

□ कांस्य युगीन सभ्यता में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास की रूपरेखा स्पष्ट करें।

उत्तर :

कृषि का आरंभ (कांस्य युग) एवं समाज पर उसका प्रभाव

(BEGINNING OF AGRICULTURE (BRONZE AGE) AND ITS IMPACT ON SOCIETY)

मानव समाज के विकास का अगला युग, 'कांस्य युग' के नाम से जाना जाता है। इसका नाम उस नयी मिश्र धातु पर रखा गया जिसने इस युग में पाषाण का स्थान ले लिया। वास्तव में इस युग में उत्पादन की नयी क्रिया 'कृषि' शुरू हुई। कृषि का आरंभ मानव सभ्यता के विकास में इतनी क्रांतिकारी घटना थी कि उसने समाज को बदल दिया।

आवश्यकताओं में होने वाले बदलाव ने विज्ञान को जन्म दिया। नगरों के विकास ने सामाजिक संगठन को बदल दिया। बाद में इसका प्रभाव कांस्य-युग में विज्ञान के विकास पर पड़ा।

कृषि की शुरुआत किस प्रकार हुई, इसका हमारे पास कोई ऐतिहासिक सबूत नहीं है। इसके बारे में हम सिर्फ कल्पना कर सकते हैं। अन्न की खेती की शुरुआत अवश्य ही भोजन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति से हुई जिन स्थानों पर जंगली अनाज का ढेर होगा, वहाँ काफी बीजों के इधर-उधर बिखर जाने से काटने लायक फसल तैयार हो जाती होगी। खेती शायद इस समझ के कारण हुई कि बीजों से पौधे उगाये जा सकते हैं और फसल उगने का मौसम के साथ कुछ संबंध है। उस समय उपलब्ध पानी ने शायद इस प्रक्रिया में मदद की हो। कृषि की शुरुआत आदिम युग की समाप्ति थी क्योंकि मनुष्य ने अब प्रकृति पर पूरी तरह निर्भर रहना छोड़ दिया था और अपनी आजीविका और भाग्य पर नियंत्रण करना शुरू कर दिया था।

कृषि की बदौलत ही मनुष्य उन स्थानों पर स्थायी अथवा अस्थायी तौर पर बसने लगा जहाँ भूमि और मौसम फसल के लिए उपयुक्त थे। धीरे-धीरे ये आवास गाँवों में बदलने लगे, जो एक सामूहिक तथा आगम की जिंदगी थी। यह स्वाभाविक ही था कि जो इलाके खेती-बाड़ी की दृष्टि से सबसे उपयुक्त थे, उनका विकास तेजी से हुआ। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ईसा से लगभग 4000 वर्ष पूर्व से लेकर 1500 वर्ष ईसा पूर्व तक, नील, टिग्रिस और

कृषि का विकास एवं शहरीकरण

1. **नगरों का विकास :** उस समय के लोग खाद्य पदार्थों के उत्पादन में नदियों के महत्त्व को भली-भाँति समझ लगे थे। वे यह भी जानने लगे थे कि यदि प्राकृतिक और कृत्रिम तरीके से सिंचाई करने के लिए नदियों का समुचित उपयोग किया जाए तो अनाज का उत्पादन कई गुणा बढ़ सकता था (चित्र)। परन्तु यह कार्य अकेले एक गाँव से नहीं हो सकता था। इसके लिए कई गाँवों को एक साथ मिलकर काम करने की जरूरत थी। इसके साथ ही विनिमय व्यापार में कुछ ऐसे स्थानों को चुना गया जो विनिमय के लिए उपयुक्त थे। वस्तुओं के प्रदर्शन के लिए तथा कपड़े और मसालों के बदले में अनाज के लेन-देन अथवा कुशल कारीगरों द्वारा बनाये गये बेहतर किस्म के औजारों और उपकरणों आदि के क्रय-विक्रय के लिए सुविधाजनक स्थानों का चयन किया गया। कुछ सबूत यह बताते हैं कि गाँवों की आबादी के एक साथ मिलने से नगरों की स्थापना हुई। नगरीकरण के विकास ने प्रशासक वर्ग को जन्म दिया। यह वर्ग वस्तुओं के उत्पादन और विनिमय को आयोजित और समन्वित तो करता था पर उसमें प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेता था।

इस तरह उत्पादन के इस नये तरीके से नगरों के विकास में मदद मिली। मनुष्य ने अपनी आवश्यकता से कहीं

अधिक उत्पादन करना शुरू कर दिया। इसलिए समाज में हर व्यक्ति को खेती करने की जरूरत नहीं रही। वे कई अन्य उपयोगी वस्तुएँ बना सकते थे या संगीत अथवा नृत्य जैसी कलाओं में प्रवीण होने के लिए समय निकाल सकते थे। अतिरिक्त अन्न उन कारीगरों को जो खेती के लिए उपकरण और भंडारण पात्र बनाते थे, उन मिस्त्रियों को जो घरों का निर्माण करते थे, उन कुम्हारों को जो मिट्टी के बर्तन बनाते थे या गाड़ी बनाने वालों को उपयोग के लिए दिया जा सकता था। इसके अलावा भी समाज में और लोग थे जो प्रशासक तथा पुजारी थे और जिनका उत्पादन कार्यों से सीधा संबंध नहीं था। इन सभी वर्गों के लोग नगरों में बस गये थे।

नगरों की आबादी का भरण-पोषण आसपास के इलाकों में होने वाली खेती-बाड़ी तथा दूर-दराज के गाँवों की सहायता से भी होता था। इसका परिणाम यह निकला कि गाँवों और शहरों के निवासियों में अंतर आता गया। एक तरफ वे लोग थे जो अनाज पैदा करते थे, दूसरी तरफ वे लोग जो उत्पादन में मदद करते थे। अर्थात् एक तरफ वे लोग जो अपने हाथ से काम करते थे और दूसरी तरफ बुद्धिजीवी वर्ग जो प्रशासक अथवा पुजारी होते थे। काम के इस विभाजन का विज्ञान और तकनीकी के विकास पर निश्चय ही बड़ा गहरा असर पड़ा। किसी भी काम-धंधे अथवा व्यवसाय में मनुष्य ने पहली बार विशेष योग्यता हासिल की थी। भोजन की कोई कमी न थी, इसलिए समाज उन लोगों का भी पेट पाल सकता था जो उत्पादन के काम में हाथ नहीं बँटाते थे। ऐसे लोगों के पास सोचने-विचारने, अपनी कार्यकुशलता विकसित करने तथा कला एवम् सौन्दर्य के सृजन का काम करने के लिए पर्याप्त समय था। ये लोग धार्मिक और प्रशासनिक संस्थाओं के माध्यम से समाज का नेतृत्व करने के लिए अपनी योग्यता बढ़ाने में अपना समय बिताते थे।

जीवन की अन्य जरूरी वस्तुएँ और ऐशो-आराम की चीजें प्राप्त करने के लिए फालतू अनाज को थल, नदी, और समुद्री मार्गों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाना—ले जाना भी पड़ता था। इसने परिवहन के साधनों, जैसे—बेड़ों, नावों और छोटे जलयानों आदि के विकास को बहुत बढ़ावा दिया। इससे विभिन्न समाजों के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध बने तथा तकनीकी का आदान-प्रदान होने लगा।

2. सामाजिक संगठनों में परिवर्तन : हम यह देखते हैं कि हमने अभी जिस विचारधारा का ऊपर जिक्र किया है उसने सामाजिक संगठनों में एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दिया जिससे इन सभ्यताओं के विकास की प्रक्रिया एक दम ठप्प हो गयी और अंत में उनके विनाश का कारण बनी। समाज की आवश्यकता पूरी करने के बाद जो फालतू सामान अथवा खाद्यान्न बचता था, उस पर शासकों का एक छोटा वर्ग अपना अधिकार जमा लेता था। ये ही लोग बाद में पुजारी और राजा बन बैठे तथा इन्होंने अपना एक विशेष वर्ग बना लिया। मूल प्रशासकों के उत्तराधिकारी, धीरे-धीरे कृषि की तकनीकों तथा उत्पादन की अन्य विधियों से अपने संपर्क तोड़ बैठे। इन्होंने समाज पर अपनी सत्ता कायम रखने तथा अपने को विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति कहलाने के लिए अपना समय और ध्यान भवनों, मंदिरों और राजप्रसादों के निर्माण में लगाना शुरू



चित्र : खंभों पर संतुलित बल्ली से लटकी चमड़े की बाल्टी को नीचे करके पानी ऊपर उठाता हुआ मिस्र का एक किसान। दूसरे सिरे पर भार होने के कारण किसान को पानी ऊपर उठाने में आसानी होती है। लगभग 1500 ईसा पूर्व मकबरे की चित्रकला के प्राप्त रेखाचित्र। भारत में आज भी इस तरह का उपकरण

कर दिया। इन्होंने ज्यादा-से-ज्यादा उपजाऊ भूमि को अपने कब्जे में लेने के लिए सेनाएँ बनानी शुरू कर दीं। इनका पुरोहिता प्रभाव भी बढ़ता गया। इन्होंने एक ऐसी विचारधारा को जन्म दिया कि इनके पास अलौकिक शक्तियाँ हैं तथा सामान्य नागरिक का पथ-प्रदर्शन करने और उसका नेतृत्व करने के लिए स्वयं ईश्वर ने इन्हें बनाया है। इस प्रकार समाज में दो वर्ग बन गये। एक वर्ग वह था जो उत्पादन करता था और दूसरा वर्ग उस पर अपना हक जमा लेता था।

इस प्रक्रिया से यह नुकसान हुआ कि जिन लोगों ने आरंभ में उत्पादन बढ़ाने के लिए अपनी तकनीकी और अनुभव कुशलता का इस्तेमाल किया था वे उन उत्पादन तकनीकों और कौशलों को भूल गये जिनकी बदौलत वे सत्ता में आये थे। इसका नतीजा यह निकला कि भौतिक समस्याओं का समाधान ढूँढने के लिए विज्ञान और तकनीकी की बजाए जादुई शक्ति या झूठी धारणाओं का ज्यादा-से-ज्यादा सहारा लिया जाने लगा। जो किसान और कारीगर उत्पादन करते थे, वे अब रोज की समस्याओं में उलझे रहने लगे। उनके पास नये आविष्कारों के लिए अब बहुत कम साधन बचे थे। इस प्रकार कारीगर और उत्पादक वर्ग अपनी समस्याएं हल करने के लिए तकनीक में सुधार नहीं कर पाता था और अभिजात्य वर्ग जिनके पास समय, साधन और शक्ति थीं, उसकी इन सबमें कोई दिलचस्पी नहीं बची थी। इसका परिणाम यह निकला कि विज्ञान और तकनीकी की प्रगति रुक गयी।

इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है कि इस गतिहीनता ने सभ्यताओं को पूरी तरह नष्ट कर दिया, जैसा सिंधु घाटी सभ्यता के साथ हुआ था। कभी-कभी एक समुदाय जब दूसरे समुदाय पर विजय प्राप्त कर लेता था तो उनमें आपसी मेल-जोल भी हो जाता था, जैसे यूरोप में कमजोर तथा निष्क्रिय संस्कृतियों पर क्रूर हमलों के कारण हुआ। इन दोनों स्थितियों में प्रगति का केन्द्र बिंदु अन्य भौगोलिक स्थानों पर चला गया।

कृषि आरंभ होने के फलस्वरूप काँस्य-युग की वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ

नगरीकरण के साथ जो उल्लेखनीय तकनीकी प्रगति हुई, उसमें धातुओं और मिश्रित धातु काँसे की खोज और उनका इस्तेमाल प्रमुख था। इसके साथ ही विभिन्न समाजों के बीच व्यापार में हुई वृद्धि के कारण परिवहन के साधनों में भी सुधार हुआ। शहरी जन-जीवन को चलाने के लिए विभिन्न प्रकार की जरूरी सेवाओं में गुणों की दृष्टि से कई परिवर्तनों का आना वैज्ञानिक चेतना की शुरुआत थी। यह सब इसलिए संभव हो सका क्योंकि विकास के आरंभिक दौर में तकनीकी के उपयोगकर्ताओं और पुरोहितों, जो केवल मानसिक कार्य ही करते थे, को मिलकर काम करना पड़ा। वस्तुओं की संख्या या मात्रा का हिसाब-किताब रखना, उनकी गिनती, नाप-तौल के लिए मानक तैयार करना और पंचांग आदि की खोज, काँस्य युग में मात्रात्मक विज्ञान (quantitative science) के आधार थे।

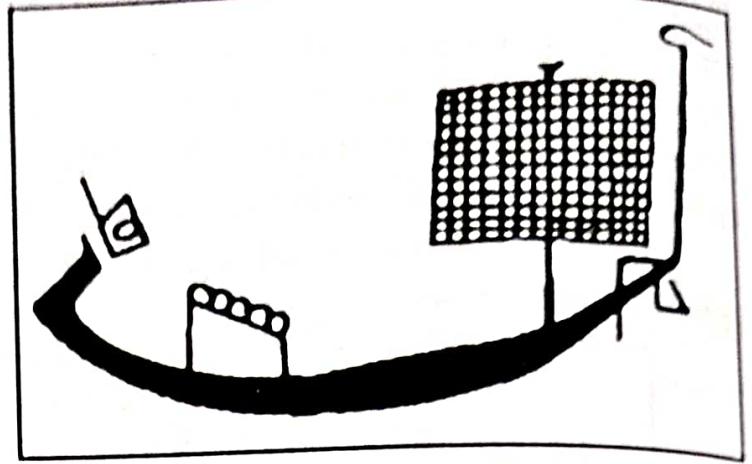
1. धातुओं का उपयोग : सबसे पहले मनुष्य को सोने और ताँबे की चमक ने अपनी ओर आकर्षित किया जो

प्रकृति में मुक्त तत्त्वों के रूप में मिलते हैं। उसने इन्हें मूल रूप से आभूषणों के रूप में इस्तेमाल करना शुरू किया। पाषाण युग के आभूषणों और गले के हारों में धातुओं के टुकड़े पाये गये हैं। परंतु पीट-पीट कर विभिन्न आकारों में बनाये गये ताँबे के पिण्ड व्यावहारिक रूप से बहुत उपयोगी नहीं थे, क्योंकि इनसे बनाये गये औजार और हथियार इस्तेमाल करने लायक नहीं थे। ये बहुत मुलायम होते थे। मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए बनायी गयी आग की भट्टियों के विकास के बाद ताँबा तैयार करने के लिए ताम्र अयस्कों (copper ores) का इस्तेमाल होने लगा। इन भट्टियों में अयस्कों को आसानी से अपचयित किया जा सकता था। बाद में राँगे और ताँबे की मिश्र धातु खोज निकाली गयी। वह ताँबे से ज्यादा कठोर और मजबूत थी तथा उसे बड़ी आसानी से उपकरणों और हथियारों में ढाला जा सकता था। ढालने के लिए पिघले हुए ताँबे और राँगे के मिश्रण को 'साँचे' अथवा किसी बर्तन में डाला जाता था। मिश्रण के ठंडा हो जाने पर वह बर्तन का आकार ले लेता था। इस प्रकार से बनाये गये कुछ औजार और हथियार पत्थर से बने उपकरणों और हथियारों से कहीं अधिक मजबूत होते थे और आसानी से तैयार किये जा सकते थे। नयी धातु के इस्तेमाल का अर्थ था—कृषि तथा बढ़ईगिरी, राजगिरी (चिनाई), औजार और बर्तन बनाने जैसे अन्य तकनीकी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन।

काँस्य युगीन सभ्यता में यह नयी धातु दुनिया के विभिन्न भागों में बड़े पैमाने पर हथियार और उपकरण बनाने में इस्तेमाल की जाने लगी तथा यह दूर-दराज के देशों से व्यापार करने की वस्तु बन गयी। भारत में ताम्र अयस्क राजस्थान

में पाया गया और वह वहाँ इतनी मात्रा में उपलब्ध था कि बवालान का परिवहन की समस्या को परिवहन की प्रगति से हल किया गया है।

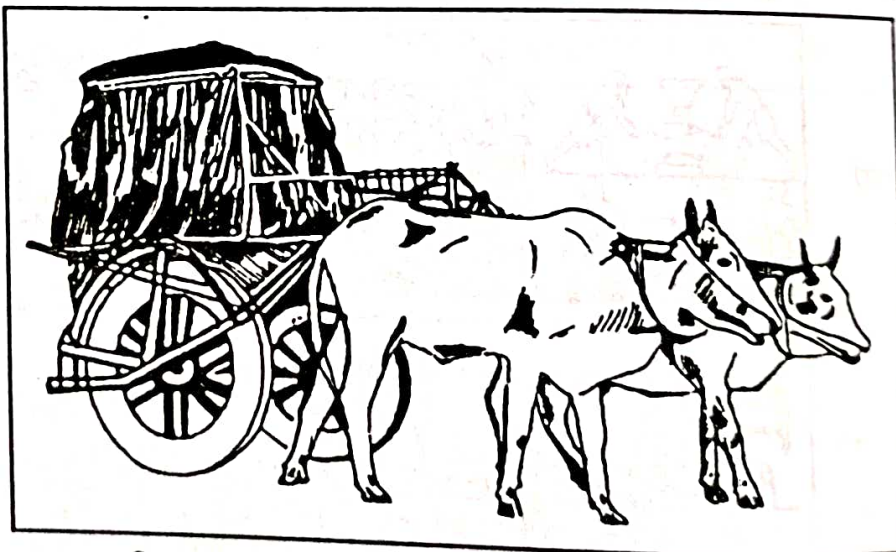
2. **परिवहन :** नदी घाटी सभ्यताओं की पहचान नदियों के किनारे बसी उनकी बस्तियाँ और शहर थे जिनके विकास के लिए अन्य चीजों के अलावा अट्टालिकाएँ (ऊँची इमारतें) और मकान बनाने के लिए पत्थर और लकड़ी की आवश्यकता थी। इन्हें दूर-दूर से लाना पड़ता था। शहरों में एक और महत्वपूर्ण बात यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति भूमि पर निर्भर नहीं था। खाद्यान्नों का उत्पादन काफी मात्रा में होता था जिससे कुछ लोग व्यापार तथा अन्य काम धंधा करके अपनी आजीविका चला सकते थे। अतिरिक्त खाद्यान्न का व्यापार संसार के विभिन्न भागों में तैयार की जाने वाली अन्य वस्तुओं से विनिमय के रूप में किया जाता था। उदाहरण के तौर पर हमारे पास ऐसे प्रमाण हैं जिनसे पता चलता है कि मैसेपोटामिया के लोग बहरीन के रास्ते भारत के साथ व्यापार करते थे। भारतीय व्यापारी तौबे के अलावा मोर और बंदर, हाथी दाँत और उससे बनी कंधियाँ, मोती और कुछ किस्मों के कपड़े आदि का निर्यात करते थे। इन चीजों के बदले में ये लोग चाँदी तथा अन्य सामान लेते थे। व्यापार तथा बड़े-से-बड़े भू-भाग पर अधिकार करने की इच्छा ने परिवहन बढ़ाने की आवश्यकताओं को जन्म दिया। नदियों में पानी के बहाव का आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता था, इसलिए संभवतः सबसे पहले जल परिवहन का विकास हुआ (चित्र)।



चित्र : मिस्र के 5,000 वर्ष पुराने नील नदी की नाव के चित्र में सबसे पुरानी पाल का चित्रण किया गया है।

हमें ऐसे भी सबूत मिले हैं जिनसे पता चलता है कि बड़ी मात्रा में सामान ढोने के लिए डोंगी और बाँस तथा शहतीरों से बने बेड़ों का इस्तेमाल किया जाता था। प्राचीन युग में ही किसी समय पहली बार पाल का इस्तेमाल आने-जाने के लिए किया गया होगा। नदी परिवहन का विस्तार जब समुद्र तक हो गया तो जहाजरानी और नौकाओं के निर्माण की नयी समस्याएँ सामने आयीं। तेज हवा में नौसंचालन का अर्थ था—पाल बनाने के लिए अधिक मजबूत वस्त्र और भारी ढाँचे की जरूरत। लकड़ी के काम को भी मजबूत और टिकाऊ होना चाहिए था। नदियाँ तो सड़कों के समान एक ही दिशा में बहती थीं परंतु समुद्र में आदमी आसानी से अपने मार्ग से भटक सकता था। इसलिए दिशा और स्थिति ज्ञात करने के लिए नये तरीके ईजाद करने की आवश्यकता थी। इसका सबसे पुराना तरीका था भूमि ढूँढ़ने वाले पक्षियों से स्थिति का ज्ञान हासिल करना। सूर्य और तारों से दिशा मालूम करने का तरीका भी काफी प्रचलित था।

शहरों के विकास के लिए भारी-भरकम सामान थोड़ी दूर तक पहुँचाने के लिए भूमि परिवहन की आवश्यकता पड़ी होगी। शुरू में यह काम स्लेज गाड़ी ने किया होगा। पहाड़ की चोटियों से अथवा ऊँचाई से भारी चीजें नीचे की ओर आसानी से लुढ़कायी जा सकती थीं। लेकिन मैदानी इलाकों में वृक्षों के मोटे-मोटे तने रोलर के रूप में इस्तेमाल किये जाते थे। पहिये के आविष्कार



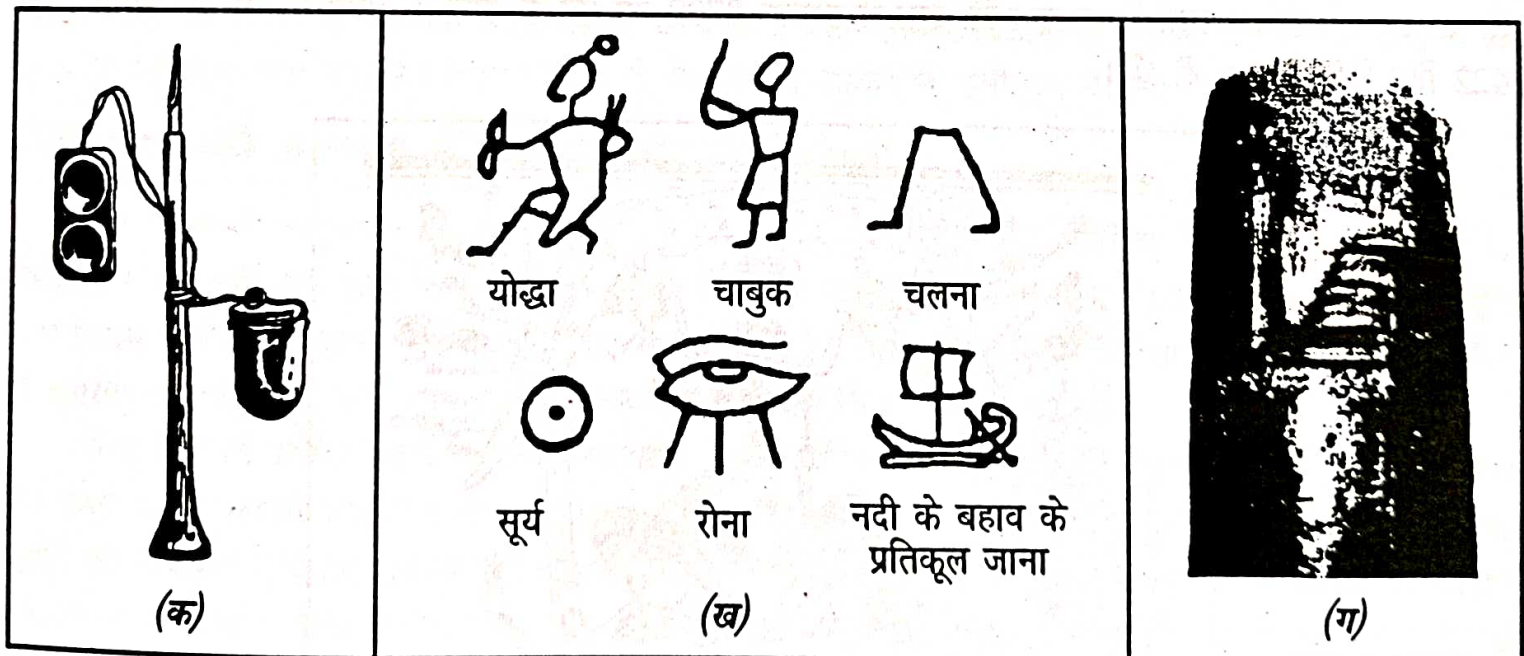
चित्र : भारत की एक बैलगाड़ी। पहिये के चारों ओर लगे हुए चमड़े के पट्टों पर ध्यान दीजिए।

से भूमि परिवहन के विकास में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। हमारे लिए किसी ऐतिहासिक सबूत के जरिये यह पता लगाना मुश्किल है कि पहिये का आविष्कार सबसे पहले कहाँ हुआ। गाड़ियाँ बनाने के लिए इसका इस्तेमाल संभवतः काँस्य युग की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इन गाड़ियों का इस्तेमाल सामान और यात्री ढोने के लिए किया जाता था। इस प्रकार के परिवहन के विकास में सबसे बड़ी प्रवीणता इस बात में थी कि ठोस पहिया गाड़ी में इस प्रकार जोड़ा गया था कि वह बाहर आये बगैर ही अपनी धुरी पर घूम सकता था। दूसरे शब्दों में, पहिये और धुरी का जन्म जुड़वाँ रूप से हुआ। शीघ्र ही मैसोपोटामिया और सिंधु में और बाद में मिस्र में, जहाँ परिवहन का मुख्य साधन केवल नौकाएँ थीं, पशुओं द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों का विकास हुआ। प्राचीन मैसोपोटामिया की गाड़ियों में और कुछ वर्तमान भारतीय बैलगाड़ियों में भी धुरी घूमती है और चमड़े के पट्टों से उसे अपने स्थान पर रखा जाता है।

पहिये की गति, बड़े-बड़े पत्थरों को उखाड़ने के लिए उत्तोलक के इस्तेमाल ने तथा अन्य भंडारों और मंदिरों के निर्माण में सामान को ऊपर या नीचे पहुँचाने के लिए ढलवाँ सतह के इस्तेमाल ने यांत्रिकी के सिद्धांतों को समझने में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वास्तव में यांत्रिकी ने मनुष्य की गतिशीलता को बढ़ाने में बड़ा ही प्रभावशाली योगदान दिया है। आज हम जमीन पर कहीं भी तीव्र गति से आ-जा सकते हैं, समुद्र लाँघ सकते हैं, आकाश में उड़ान भर सकते हैं और अंतरिक्ष में जा सकते हैं।

3. मात्रात्मक विज्ञान : कृषि से उपलब्ध अतिरिक्त पैदावार और कारीगरों द्वारा तैयार किया गया माल काफी मात्रा में उपलब्ध होने के कारण उनका आपस में आदान-प्रदान और व्यापार मनुष्य के जीवन का एक अंग बन गया था। समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का लेन-देन शुरू हो गया और यह लेन-देन काफी बड़ी मात्रा में होने लगा। इसलिए किस वस्तु को किस दूसरी वस्तु के बदले और कितनी मात्रा में लिया अथवा दिया जाए, इसे जबानी याद रखना मुश्किल हो गया। इसके लिए कोई-न-कोई मानक, जैसे—अनाज आदि की मात्रा की नाप-तोल मालूम करना जरूरी हो गया, जिससे लेन-देन के लिए अथवा व्यापार के लिए एक निश्चित मात्रा में वस्तु निकाल कर अलग कर दी जाए।

जिस वस्तु का व्यापार करना होता था, उसका हिसाब-किताब रखने के लिए नाप-तोल का जो संकेत बनाया गया



चित्र : (क) प्राचीन मिस्र की लेखन सामग्री : दवात, नरकुल से गढ़ा गया कलम और पानी रखने का पात्र, (ख) मिस्र की कुछ चित्रलिपियाँ। (ग) मैसोपोटामिया के कीलाक्षर—मैसोपोटामिया के राजा हमूराबी (लगभग 1800 ईसा पूर्व) के द्वारा बनायी गयी नियमावली जो एक स्तम्भ पर खुदी है। स्तम्भ के ऊपरी सिरे पर सूर्य देवता को हमूराबी को नियमावली देते हुए दिखाया गया है और निचले भाग में नियमावली लिखी गयी है। इस स्तम्भ की एक प्रतिकृति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

उसमें कोई चित्र अथवा उस वस्तु विशेष का छोटा सा चिन्ह होता था। धीरे-धीरे इन चिन्हों अथवा संकेतों का उपयोग किसी वस्तु विशेष अथवा कार्य को दर्शाने के लिए किया जाने लगा और इस प्रकार लेखन कला का जन्म हुआ। लेखन कला का विकास या तो रेखाचित्रों द्वारा बनाये गये संकेतों के रूप में हुआ, जो पूरे भाव को व्यक्त करते थे (जैसा कि चीनी भाषा में है), या फिर मैसोपोटामिया की कीलाक्षर लिपि के रूप में अथवा मिस्र की चित्रलिपि के रूप में हुआ, जिसमें संकेत और ध्वनि दोनों का एक साथ बोध होता था (चित्र)। वस्तुओं के आदान-प्रदान के लिए उनके भार का 'मानक' निश्चित करने के साथ ही तुला की आवश्यकता पड़ी। यह एक ऐसी वैज्ञानिक खोज थी जिसके बड़े-बड़े परिणाम निकले। आदान-प्रदान के लिए जोड़ने और घटाने की भी जरूरत पड़ी और इस प्रकार अंकगणित का आविष्कार हुआ।

मकान बनाने के लिए ईंटों के इस्तेमाल ने समकोण और सीधी रेखा का उपयोग करना सिखाया जिसने उस विषय को जन्म दिया जिसे हम रेखागणित कहते हैं। कलकत्ता के देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय और ऑक्सफोर्ड के अलचिन जैसे आधुनिक इतिहासकारों और पुरातत्वशास्त्रियों के दल का यह मत है कि किसी समय सिंधु घाटी सभ्यता में भी रेखागणित का आधार तैयार हुआ। इस सभ्यता ने रेखागणित का जो ज्ञान दिया, उसका अनुसरण लौह युग के यूनानी ज्यामितिशास्त्रियों ने भी किया। इस प्रकार आधुनिक रेखागणित पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। ईंटों से भवन निर्माण की विधि ने किसी भी ठोस वस्तु अथवा आकृति के क्षेत्रफल और आयतन की विचारधारा को जन्म दिया। यह आयतन और क्षेत्रफल उस वस्तु की लंबाई नाप कर ज्ञात किये जा सकते थे। सबसे पहले केवल आयताकार टुकड़ों का ही आयतन मालूम किया जा सकता था। बाद में मिस्र में गणित इतना विकसित हो गया कि उससे किसी पिरामिड (pyramid) का आयतन भी नापा जा सकता था। शीघ्र ही गिनने और गणना करने की योग्यता अन्य क्षेत्रों में, पंचांग तैयार करने और उससे होने वाले खगोल विज्ञान के विकास में भी लाभदायक सिद्ध हुई। इस इकाई में हम पहले पढ़ चुके हैं कि किस प्रकार मार्ग निर्देश करने के लिए सूर्य, चंद्रमा और तारों के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। बड़े पैमाने पर खेती-बाड़ी की याजना बनाने के लिए भी व्यावहारिक खगोल विज्ञान की आवश्यकता महसूस की गई। नदी घाटियों में बाढ़, जो बार-बार आने वाली विपत्ति थी, का सामना करने के लिए पहले से तैयार रहना जरूरी होता था। वर्ष की अवधि नापने के लिए सूर्य और तारों की गति का इतना सही अध्ययन किया गया कि ईसा से लगभग 2700 वर्ष पूर्व ही मिस्र के लोगों ने वर्ष की अवधि 365.2422 दिन निश्चित कर दी थी।



चित्र : ब्रह्मांड के बारे में मिस्र की प्रारंभिक धारणाएं। ऊपर सितारों से भरी आकृति आकाश की देवी नूट की है। नूट के नीचे पवन के देवता शु हैं जिनके हाथों में अरमत्व का प्रतीक है। उसके नीचे भूमि के देवता गेब की आकृति है जिसका शरीर पत्तियों से ढका है। चित्र के प्रत्येक ओर बनी नावें सूर्य को प्रतिदिन आकाश के उस पार की यात्रा पर ले जाती थी।

सुमेरियाई खगोलशास्त्रियों ने और मैसोपोटामिया में उनके उत्तराधिकारियों ने सही अध्ययन करके सौर और चंद्र पंचांग तैयार कर लिये थे। उन्होंने वृत्त को 360° के अंश में बांट कर षाष्टिक पद्धति का आविष्कार किया (यह एक वर्ष में कुल जितने दिन होते हैं, उसके आसपास था। इसमें 60 मिनट का एक घन्टा और 60 सेकेंड का एक मिनट होता है।) गणितीय तालिका का इस्तेमाल करते हुए कई तरह के प्रयोग किये गये जिनके फलस्वरूप आगामी युगों में बीजगणित तथा अंकगणित का जन्म हुआ।

एक अन्य व्यवसाय, जिसे शहरों के विकास के साथ बहुत प्रतिष्ठा मिली, वह चिकित्सा विज्ञान था। यद्यपि चिकित्सा का उपयोग केवल घाव, अस्थिभंग अथवा हड्डी चटकने आदि के इलाज तक ही सीमित था, परंतु चिकित्सक कई बीमारियों का सफलतापूर्वक निदान कर लेते थे। वे एक रोगी की बीमारी का दूसरे रोगी की बीमारी से तुलना करना, उनमें अंतर ज्ञात करना और उनके लक्षणों को दर्ज करना जानते थे। ये विवरण मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते गये और इस प्रकार शरीर-रचना विज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान (anatomy and physiology) की उत्पत्ति हुई। चिकित्सकों को पौधों और कई प्रकार के खनिज पदार्थों के गुणों की भी जानकारी थी जिनसे वे विभिन्न तरह की बीमारियों के इलाज के लिए औषधियाँ तैयार करते थे। औषधियाँ बनाने के लिए वे अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियाँ और पौधे भी उगाते थे। यही वह स्रोत था जिससे बाद में वनस्पति-विज्ञान (botany) का जन्म हुआ। रसायनशास्त्र का मुख्य आधार जौहरी, धातुशिल्पी तथा मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कारीगर थे। ये लोग कम-से-कम नौ रासायनिक तत्वों—सोना, चाँदी, ताँबा, रांगा, सीसा, पारा, लोहा, गंधक और कार्बन के बारे में जानते थे। इसके अलावा इन्हें धातु पर क्रिया करने वाले कई प्रकार के तरल एवं शुष्क पदार्थों की भी जानकारी थी। अयस्कों को गलाने, उन्हें शुद्ध करने, उन पर रंग और तामचीनी (enamel) चढ़ाने के लिए अनेक जटिल रासायनिक क्रियाओं की जरूरत पड़ती थी तथा इन्हें कई प्रकार के प्रयोगों और परीक्षणों से गुजरने के बाद सीखा जा सका। लेकिन कांस्य युग में रसायनशास्त्र को कभी भी एक मान्यता प्राप्त विज्ञान का दर्जा नहीं मिला।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि विकसित हो रहे शहरों की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं और शहरों के बीच व्यापार-संबंधों ने मात्रात्मक विज्ञानों तथा नाप-तोल के मानकीकरण, अंकगणित, रेखागणित, खगोलशास्त्र और चिकित्सा विज्ञान आदि को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त कई अन्य क्षेत्रों, जैसे—रसायन विज्ञान, बीजगणित, शरीर रचना विज्ञान और शरीर क्रियाविज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान आदि के विकास का आधार भी इसी युग में तैयार हुआ।

सिंधु घाटी की सभ्यता में विज्ञान और प्रौद्योगिकी

सन् 1920 के आस-पास हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो नामक दो महान् प्राचीन शहरों का पता चला था। ये शहर अब पाकिस्तान में हैं। ये दोनों शहर सिंधु घाटी की अत्यंत विकसित सभ्यता के पहले प्रमाण हैं। उसके बाद कालीबंगन, रोपड़ और लोथल जैसे अन्य स्थानों पर की गई खुदाई से पता चला कि यह सभ्यता पूर्व में वर्तमान हरियाणा तक और दक्षिण में गुजरात तक फैली हुई थी। आप ये सब स्थल दिये गये मान चित्र में देख सकते हैं।

सिंधु घाटी के प्राचीन शहरों में जिस योजनाबद्ध ढंग से बस्तियाँ बसायी गयी थीं, उनकी रूपरेखा देखते ही बनती है। शहरों के कुछ मकान बहुमंजिले और आलीशान थे। ये पक्की ईंटों से बनाये गये थे तथा इनमें स्नानागार और शौचालय आदि की बेहतरीन सुविधाएं उपलब्ध थीं। स्पष्ट है कि ये मकान धनी वर्ग के लोगों के रहे होंगे। बस्तियों के नक्शे में मकान लगभग 200×400 गज के आयताकार क्षेत्रों में बनाये गये थे। इनमें मुख्य सड़क चौड़ी होती थी और छोटी-छोटी गलियाँ थीं। सीधी सड़कें बिल्कुल ठीक-ठीक समकोण पर मिलती थीं। बरसात के पानी के लिए जल-निकासी की शानदार व्यवस्था थी तथा गंदगी की निकासी के लिए मल-कुंड बनाये गये थे। अनाज का सुरक्षित भंडार रखने के लिए कई अच्छे अनाज भंडार बनाये गये थे। आयताकार क्षेत्रों में बने छोटे-छोटे मकान विशेषकर मजदूरों अथवा दासों के लिए थे। सार्वजनिक स्नानस्थल सिंधु घाटी के शहरों की एक प्रमुख विशेषता थी। खुले आंगन में एक लगभग 23 फुट चौड़ा और 30 फुट लंबा तथा 8 फुट गहरा आयताकार कुआँ मिला है जिसके चारों ओर कई कमरे और बहमंजिली इमारतें पायी गयीं

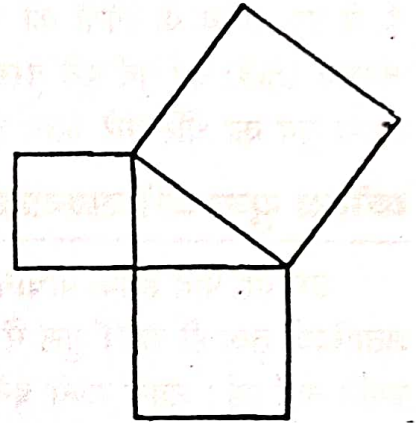
हैं। कुएँ की दीवारें भली-भाँति चिनी गयी ईंटों से बनी हैं और उनके ऊपर पानी को रोकन वाल पल्लदार २। कुएँ का सफाई और पानी निकालने के लिए एक अच्छी नाली बनी है तथा उसमें स्वच्छ जल भरने के लिए पास में एक कुँआ है।

सिंधु घाटी में निर्माण और विन्यास की उच्च किस्म को देख कर यह पता चलता है कि उस युग के लोग बहुत ही बढ़िया तकनीकी के जानकार थे। उन्होंने जगह के बेहतर उपयोग और रेखागणित के ज्ञान की बदौलत निर्माण की कला में महारत हासिल कर ली थी। इतिहासकारों का यह मानना है कि ज्यामितीय गणना से एकदम सही-सही ईंटें बनाना और उन्हें विभिन्न आकारों में तथा तरह-तरह की बनावटों में एक साथ जोड़ना, सड़कों तथा मकानों के निर्माण में सीध बनाये रखना और सही जगह पर बिलकुल सही मोड़ देना आसान काम नहीं था। इसके लिए रेखागणित का बहुत अच्छा ज्ञान होना आवश्यक था।

उल्लेखनीय है कि लगभग 600-300 वर्ष ईसा पूर्व के एक ग्रंथ 'शुल्बसूत्र' में ज्यामितीय प्रमेय और उन्हें सिद्ध करने की विधियों का विस्तृत विवरण मिला है। इन सूत्रों का उपयोग वैदिक युग में धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञ आदि के लिए अग्नि की वेदी बनाने के लिए किया जाता था। अग्नि की ये वेदियां सिंधु घाटी सभ्यता के कुछ शहरों, जैसे—कालीबंगन आदि में भी पायी गई हैं। इन तथ्यों के आधार पर इतिहासकारों का यह अनुमान है कि शुल्ब ज्यामिती सिंधु घाटी सभ्यता की देन है जो परंपरागत ढंग से बाद की पीढ़ियों को मिली।

पाइथागोरस प्रमेय के बारे में हम सब जानते हैं (चित्र)। इसके अनुसार—“किसी भी समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग त्रिभुज की दोनों भुजाओं के वर्गों के जोड़ के बराबर होता है।” अतः तौर पर यह माना जाता है कि इसकी खोज यूनानी

प्राचीन पाइथागोरस से 582 = 500 वर्ष ई.पू.) ने की थी। शुल्बसूत्र में इस प्रमेय की और परिभाषा दी गयी है। इसके अनुसार, “किसी भी आयत का विकर्ण उतना ही क्षेत्रफल घेरता है जितना उसकी लंबाई और चौड़ाई अलग-अलग घेरती है।” इसके अलावा शुल्बसूत्र में ज्यामितीय आकृतियाँ बनाने, विभिन्न क्षेत्रफलों वाले एक जैसे रेखाचित्र खींचने तथा ज्यामिति से संबंधित अनेक अन्य समस्याएँ हल करने की विधियाँ दी गयी हैं। शुल्बसूत्र में 2 का वर्गमूल 1.4142156 दिया गया है। इन सब तथ्यों के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सिंधु घाटी के लोगों को रेखागणित का काफी अच्छा ज्ञान था। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और अन्य स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुए काँसे के बर्तनों, उपकरणों, मुहरों, आभूषणों और खिलौनों से यह पता चलता है कि सिंधु घाटी सभ्यता ने विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में उच्च स्तर की जानकारी प्राप्त कर ली थी (चित्र)। पुरातत्व के सर्वेक्षणों में मिले शिल्प-तथ्यों से यह भी सिद्ध होता है कि मैसोपोटामिया के साथ उनके व्यापारिक संबंध भी थे।



चित्र : पाइथागोरस प्रमेय का रेखाचित्रण

सिंधु घाटी सभ्यता की एक अन्य बड़ी ही महत्वपूर्ण विशेषता यह मिली है कि उस युग के लोग काँसे का इस्तेमाल केवल मजबूत चाक, छेनी और आरी आदि उपकरणों को बनाने के लिए करते थे। उन्होंने संभवतः कभी भी ऐसे हथियारों का निर्माण नहीं किया जो हिंसा के काम आ सकते थे। उस समय के बर्छी या भाले बिना धार वाले होते थे जो लड़ाई आदि के लिए बिल्कुल बेकार थे। न ही उस समय काँसे की नोक वाले तीर बनाये जाते थे। वास्तव में सिंधु घाटी की प्राचीन संस्कृति अहिंसावादी थी।

सिंधु घाटी सभ्यता के बारे में ये सभी निष्कर्ष केवल वस्तुगत प्रमाणों के आधार पर निकाले गये हैं, जैसे—उपकरण, मिट्टी के बर्तन और कपड़े आदि के रूप में प्राप्त अवशेष, शिल्प, शहरों की बनावट और योजना जिसमें उनकी उस समय की जल-मल व्यवस्था आदि शामिल है। परंतु यदि हम इन स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुए सिक्कों और मुहरों की भाषा पढ़ सकें तो उस युग के बारे में और अधिक जानकारी हासिल कर सकते हैं। अभी तक हम पत्थर की मुहरों पर खुदे विभिन्न चिह्नों और लिपि को नहीं पढ़ पाये हैं। हो सकता है कि भविष्य में कुछ और ऐसे तथ्य मिल जाएँ जिनसे सिंधु घाटी की संस्कृति के बारे में अधिक जानकारी मिल सके।

अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि किस प्रकार उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन से शहरों और गाँवों के विकास में मदद मिली। शहरों में वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य की मांग और बढ़ती गयी जिसके फलस्वरूप विज्ञान और तकनीकी

क्षेत्र में उल्लेखनीय हुई। इस प्रगति से उत्पादन के तौर-तरीकों में सुधार हुआ। उस समय खोजे गये उनके बहुत से उपकरणों में पाँच हजार वर्ष बाद भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। हममें से अनेक उसी तरह की मेज और कुर्सीयें इस्तेमाल करते हैं, वैसे ही कमरों में रहते हैं जिनकी दीवारें और छत ईंट, पत्थर तथा प्लास्टर की बनी होती हैं, उसी प्रकार की प्लेटों में खाना खाते हैं तथा वैसे ही सूती, ऊनी अथवा रेशमी वस्त्र पहनते हैं। यहाँ तक कि आज जो दालें हम खाते हैं, वे उस समय के लोगों को भी कमोबेश मालूम थीं। परंतु यह शानदार युग जिसने हमें इतनी सब चीजें दी, ईसा से लगभग 1500 वर्ष पूर्व पूरी तरह लुप्त हो गया। अब आगे हम आपको उन विशेष कारणों के बारे में जानकारी देंगे जिनसे कांस्य युग का धीरे-धीरे पतन हो गया।

कांस्य युग की सभ्यता का पतन

हम यह पाते हैं कि प्राचीन शहरों के उद्भव के साथ उत्पादन के तौर-तरीकों में जो महान प्रगति हुई, वह केवल कुछ शताब्दियों तक ही रही। शुरू में तो तकनीकों के विकास में बहुत प्रगति हुई, किंतु बाद में एक लंबे दौर तक कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। शहरी राज्य बने और बिगड़े, पुरोहित-राजाओं के वंश आये और गये। लेकिन उत्पादन के तौर-तरीकों में कोई परिवर्तन नहीं आया। खेती के पुराने तरीके, जो सिंचाई पर निर्भर थे, चलते रहे और साथ-साथ दूसरे शहरों के साथ व्यापार चलता रहा। किंतु कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव नहीं आया। यह सब शायद इसलिए हुआ क्योंकि इस दौरान सामाजिक संगठनों का ढाँचा भी बदला। आदि मानव समुदाय में कोई विशिष्ट वर्ग नहीं होता था, जबकि इस समाज में विभिन्न वर्गों के लोग रह रहे थे। जैसा कि हमने इस इकाई में पढ़ा कि एक वर्ग वह था, जो उत्पादन करता था और दूसरा वर्ग वह था जो उस उत्पादन पर अपना हक जमा लेता था। इसका एक अर्थ यह भी है कि सोचने वालों और करने वालों में फर्क था, सिद्धान्त और व्यवहार में अंतर था। हमने यह भी देखा कि इससे विज्ञान की प्रगति में भी रुकावट आयी। अंत में, पूरे सामाजिक ढाँचे में शोषण का समावेश हो गया। किसान और शहरी कारीगर गरीब होते गये, अंततः उनमें से कुछ दास बन गये। समाज दो वर्गों में बंट चुका था। एक वे जिनके पास सब कुछ था और दूसरे वे जिनके पास कुछ नहीं था। यहाँ से दोनों के बीच दरार पैदा हो गयी। इससे शहर कमजोर होते गये और अंत में उनकी बौद्धिक एवं तकनीकी प्रगति बिल्कुल ठप्प हो गयी।

बढ़ती हुई जनसंख्या और बाहरी बर्बर जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप भी शहरी संस्कृति पर भारी दबाव पड़ा। अपनी जनसंख्या को रोटी खिलाने के लिए उन्हें और अधिक जमीन की आवश्यकता पड़ी तथा उन्हें अपनी भौगोलिक सीमा का विस्तार करना पड़ा। उसकी रक्षा के लिए उन्हें सेना गठित करनी पड़ी तथा किलेबंदी की आवश्यकता हुई। यहाँ तक कि सिंधु घाटी के लोगों को भी बाद में किलेबंदी करनी पड़ी, जबकि यहाँ एक अहिंसावादी संस्कृति चल रही थी। किलेबंदी, दीवार और हिंसा के अन्य उपकरणों जैसे—शिलाप्रक्षेपक (catapult) और खिसकायी जा सकने वाली मीनारों के लिए

यांत्रिकी के ज्ञान की आवश्यकता थी। जब युद्ध जीवन के अंग बन गये तो पेशेवरों के एक नये वर्ग का जन्म हुआ। ये वे लोग थे जिन्होंने नयी युद्ध मशीनें बनायीं और सुरक्षात्मक तथा हमलावर किस्म की चीजों का निर्माण किया। आज के इंजीनियर संभवतः इन्हीं लोगों की देन हैं।

काँस्य युग की कहानी समाप्त करते हुए हम यह कह सकते हैं कि नदियों के किनारे बसी सभ्यताओं में जहाँ एक ओर ठहराव आ गया, वहाँ दूसरी ओर उनका प्रभाव व्यापक होता गया। ये अपनी अगली पीढ़ियों के लिए ज्ञान का एक बहुत बड़ा भंडार छोड़ गयीं। बाद के प्रमुख ऐतिहासिक काल अर्थात् लौह युग का विज्ञान और प्रौद्योगिकी काफी हद तक प्राचीन युग से ही प्राप्त हुए थे। लौह युग के लोगों को उन साम्राज्यों की महानता के बारे में जरा भी संदेह नहीं था जो उन्होंने नष्ट कर दिये। यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथों में तथा होमर द्वारा रचित 'इलियड' और 'ओडिसी' में हमें आज भी उस युग की गूंज सुनाई देती है।

(Science and Technology During Vedic and Later Vedic Times including Physical and Biological Sciences)

- शारीरिक एवं जैविक विज्ञानों सहित वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास की विवेचना कीजिए।

उत्तर :

वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल

भारतीय इतिहास में आर्यों के आगमन के साथ वैदिक काल का आरंभ माना जाता है। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वैदिक काल को सामान्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है—

वैदिक काल

1. → ऋग्वैदिक काल (15000 ई. पूर्व से 1000 ई. पूर्व तक)
2. → उत्तर वैदिक काल (1000 ई. पूर्व से 600 ई. पूर्व तक)

1. **ऋग्वैदिक काल** : वैदिक काल के अंतर्गत ऋग्वैदिक काल की समय-सीमा 15000 ई. पूर्व से 1000 ई. पूर्व तक है। इस काल में संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की रचना हुई। ऋग्वेद चारों वेदों में सबसे प्राचीन है। इसी ग्रंथ के आधार पर इस कालखंड का नाम ऋग्वैदिक काल रखा गया है। ऋग्वेद काल में आर्य सप्तसिंधु में रहते थे, अतः ऋग्वेदकालीन सभ्यता 'सप्तसिंधु सभ्यता' भी कहलाती है।
2. **उत्तर वैदिक काल** : इस कालखंड की समय-सीमा 1000 ई. पूर्व से 600 ई. पूर्व तक है। इस काल में तीन अन्य वेदों क्रमशः सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद की रचना हुई। इस कालखंड में वेदों से इतर ब्राह्मण ग्रंथों की भी रचना हुई। उत्तर वैदिक काल के अंतिम भाग में आर्य दोआब से और अधिक दूर जाकर बसने लगे। वे उत्तर प्रदेश के कौसल (अयोध्या) एवं बिहार के विदेह तक चले गए। इन्हीं स्थानों से संबद्ध कथा 'रामायण' में देखने को मिलती है, जिसकी रचना इसी काल में हुई।

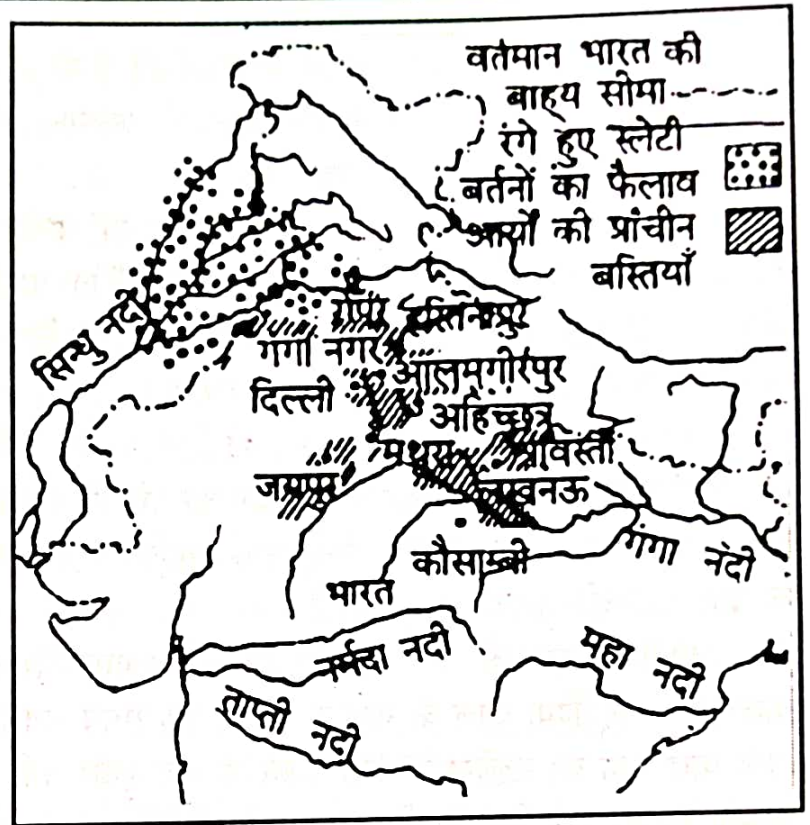
(क) भारत में वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

भारतीय उपमहाद्वीप में आने वाले खानाबदोश आर्य उन घास के मैदानों से आये थे जो आजकल सोवियत, मध्य एशिया और ईरान के हिस्सों में स्थित हैं। वे पहली बार ईसा से लगभग 1500 वर्ष पूर्व आये थे। वे दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते गए और पंजाब में पशु चराने वाले कृषक समुदायों और राज्यों के रूप में बस गये। पशु चराने वाले खानाबदोश समुदाय से वे स्थायी रूप से रहने वाले कृषक समुदाय में बदल गये। यह बदलाव मुख्य रूप से ईसा पूर्व 1500 से 1000

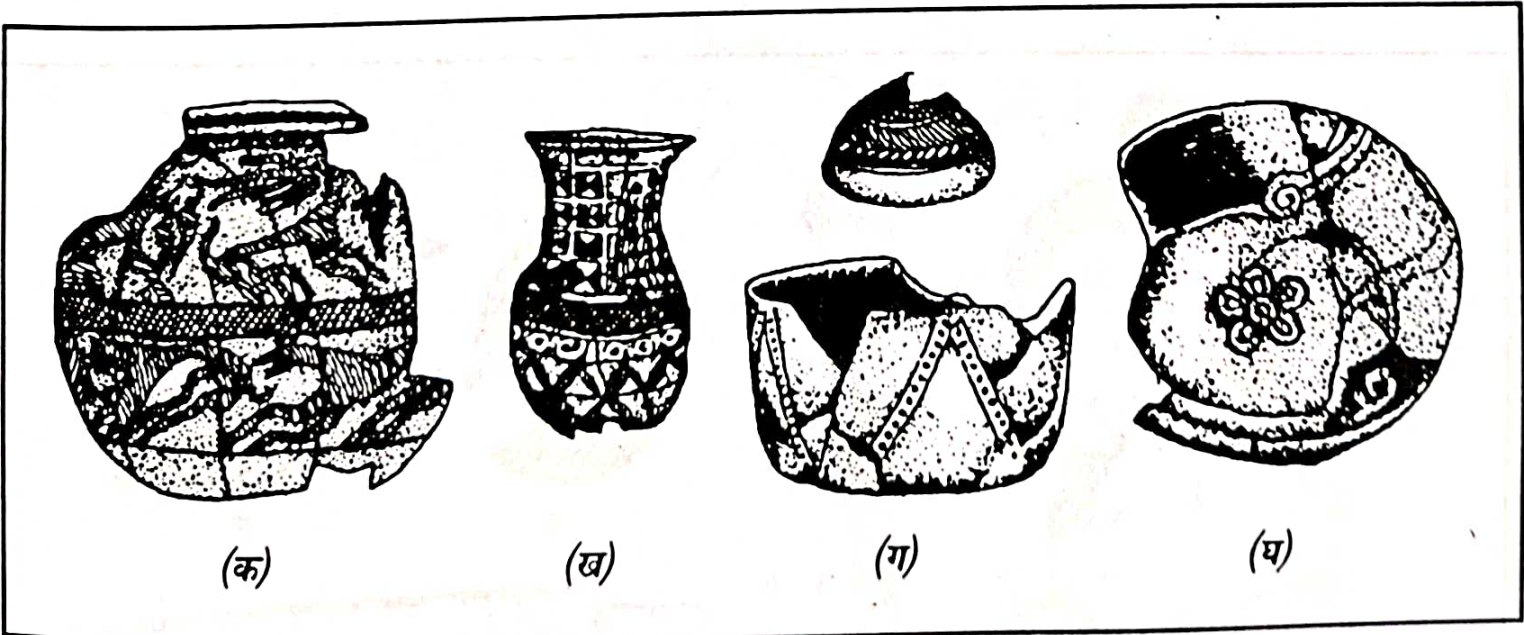
वर्ष के बीच में हुआ, किंतु वह 700-600 वर्ष ईसा पूर्व तक चलता रहा। इस युग के बारे में हमें वैदिक काल के साहित्य, जैसे—वेद, संहिता, उपनिषद, सूत्र आदि से जानकारी मिलती है। इस युग में भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास को हम निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते हैं—

1. कृषि योग्य भूमि और खनिजों की खोज : आर्यों के लिए खानाबदोश चरवाहों से किसानों में बदल जाने का काल स्थानीय निवासियों के साथ युद्ध और कलह का काल था। हमेशा ही वे खेती योग्य भूमि, खनिज और अयस्क भंडारों की खोज में रहते थे। इसके लिए उन्होंने घने जंगलों को भी साफ कर डाला। इस काल को ऋग्वैदिक काल कहते हैं।

ऋग्वैदिक काल में आर्य लोग हमेशा घूमते रहते थे और आपस में या स्थानीय लोगों से जो आर्य नहीं होते थे, संघर्ष करते रहते थे। इसलिए उन्हें विज्ञान और प्रौद्योगिकी को आगे बढ़ाने का समय नहीं मिला। उनकी प्रौद्योगिकी मुख्यतः रथों, लोहे के औजारों और युद्ध के सामान बनाने तक ही सीमित थी। गंगा के कछार में उस काल (1000 से 600 वर्ष ईसा पूर्व) के मिले मिट्टी के बर्तनों को 'रंगे हुए स्लेटी बर्तन' कहा जाता है। पर वे उतने विकसित नहीं थे जितने कि हड़प्पा काल के बर्तन थे। यह आप चित्र में देख सकते हैं।



चित्र : गंगा के मैदानी भागों से प्राप्त रंगे हुए स्लेटी बर्तनों का फैलाव जो आर्यों के पूर्व की ओर बढ़ने का प्रमाण है।



चित्र : सिन्धु घाटी और रंगे हुए स्लेटी बर्तनों के स्थलों से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों के रेखाचित्र—(क) दयामाबाद से प्राप्त लगभग 2,000 वर्ष ई.पू. के मिट्टी के बर्तन, (ख) लोथल से प्राप्त मिट्टी के बर्तन, (ग) नवादातोली से प्राप्त लगभग 2,000 वर्ष ईसा पूर्व का बर्तन। रंगे हुए स्लेटी बर्तन, (घ) कटोरा (पानीपत) और (ङ) तशतरी (अहिच्छत्र)। इनके नमूने, प्रकार और पकाने के तापमान से यह लगता है कि हड़प्पा के मिट्टी के बर्तन, रंगे हुए स्लेटी बर्तनों की तुलना में बेहतर हैं।

इसी प्रकार उस समय ईंट बनाने की तकनीकों में भी हड़प्पा काल की प्रौद्योगिकी के मुकाबले में कोई विशेष अंतर नहीं था। काष्ठ कारीगर, रथ बनाने वाले, धातुकर्मी, जलयान निर्माता आदि दस्तकार समाज के स्वतंत्र नागरिक थे। बुनाई और कताई का काम स्त्रियाँ ही करती थीं।

जहाँ तक विज्ञान के अन्य क्षेत्रों का संबंध है, हमें ऋग्वेद में ब्रह्मांड के तीन क्षेत्रों—पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश में बँटे होने का उल्लेख मिलता है। आज हम यह जानते हैं कि यह विभाजन सही नहीं था। यज्ञ तथा समारोह, जो सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की गति पर निर्भर होते थे, को संपन्न करने के लिए ब्राह्मणों को पंचांगों की जरूरत होती थी। इसके लिए इन खगोलीय पिण्डों की गतियों का पता लगाया गया।

आर्यों ने जो पंचांग बनाये, वे समय को दिनों, महीनों, वर्षों में बाँटते थे। साथ ही वे ऋतुओं को भी दर्शाते थे। परंतु उस काल में इन ग्रहों, तारों और मंडाकिनियों की गतियों के बारे में गहन अध्ययन नहीं हो पाया था। ऋग्वेद के मंत्रों और छंदों में यदा-कदा ही हमें विभिन्न पौधों, उनके वर्गीकरण और संरचना के बारे में उल्लेख मिलते हैं। कुछ मंत्रों में औषधियों के प्रति रुचि की झलक भी मिलती है।

ऋग्वैदिक काल के बाद का समय कृषि योग्य भूमि और खनिजों की खोज में आर्यों के पूर्व की ओर आगे बढ़ने का काल था। यजुर्वेदिक काल के नाम से प्रसिद्ध यह समय लगभग 300 वर्षों तक रहा। यजुर्वेद में बारह बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हलों का उल्लेख है। इस प्रकार के हल कठोर नयी भूमि की गहरी खुदाई के लिए जरूरी थे अन्यथा भूमि से अच्छी पैदावार नहीं मिलती थी अथवा भूमि अपनी उपजाऊ शक्ति को कायम नहीं रख सकती थी। इस प्रकार के हल मजबूत लकड़ी के बनाये जा सकते थे, उन्हें कांसे के औजारों से तराशा जा सकता था। परन्तु कठोर धरती को जोतने के लिए लोहे का फाल बनाया जाना जरूरी हो गया था। परंतु प्रश्न यह था कि लोहा आए कहाँ से? राजस्थान में तांबा तो मिल सकता था परंतु लौह अयस्क तो सुदूर पूर्व में मिलते थे। भारत में लोहे और तांबे के अयस्कों की सर्वोत्तम जमावटें, गंगा के कछार की पूर्वी सीमा पर (वर्तमान दक्षिण-पूर्व बिहार) में पायी जाती है। धातु अयस्कों के लिए आर्यों द्वारा की गयी खोज के सबूत हमें लगभग 1000 वर्ष ईसा पूर्व के तांबे की बर्छियों और अर्द्ध-मानव मूर्तियों के रूप में मिलते हैं (चित्र)।

य बाछ्या आर मूतयों पूरे गंगा के कछार में पायी गयी हैं। इस प्रकार मिले औजारों और कलात्मक वस्तुओं से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इन्हें आर्य व्यापारी ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। इन वस्तुओं से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों को बढ़िया भट्टों में नियंत्रित अग्नि द्वारा ताम्र को शोधने की तकनीक ज्ञात थी। समय के साथ बढ़िया किस्म के लोहे की माँग बहुत तेजी से बढ़ी। परिणामस्वरूप आर्यों ने देश भर में लोहे की नयी जमावटों की खोज आरंभ कर दी। इस खोज में वे लगभग 200 से 100 वर्ष ईसा पूर्व तक उन इलाकों में भी जा पहुँचे जो वर्तमान आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में हैं। लोहे, ताँबे, चांदी और रौंके के धातुकर्म के अपने ज्ञान में आर्य मौर्य युग के मध्य तक वृद्धि करते रहे। हमें 'अर्थशास्त्र' में अयस्कों को अपचयित करने और गलाने के ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनके अनुसार उन्हें विभिन्न किस्मों में बाँटा जा सकता है।

2. नगरीय समाजों का उत्थान : इस काल के ग्रंथों में हमें उस समय की सामाजिक परिस्थितियों की तस्वीर भी मिलती है। उस समय समाज की रचना में बुनियादी परिवर्तन हो रहे थे। समाज कबीलों से नगरीय समाज में बदल रहा था। उस समय जब आर्यों ने पूर्व की ओर बढ़ना शुरू किया तब अतिरिक्त परिश्रम के लिए 'दास' बनाने की प्रथा आरंभ हो चुकी थी। एक अति विकसित पुरोहित वर्ग भी जन्म ले रहा था। यह वर्ग यज्ञ संस्कारों में बड़ा कुशल था जिनमें आर्यों

और अनाथों की परंपराएं शामिल थीं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन हो रहा था। दस्तकार और मजदूर उनका उत्पादन स्थानीय समाज के सीधे उपयोग के लिए न करके दूर इलाकों में बसी आर्य और अनाथ बस्तियों के लिए करते थे।

उत्तरपथ और बाद में दक्षिणपथ नाम के व्यापारिक मार्ग बन चुके थे। आप इन मार्गों को दिए गए में देख सकते हैं। सार्ववाह और वैदेहिक नाम से प्रसिद्ध व्यापारियों ने इन मार्गों द्वारा तक्षशिला से मगध तक आना-जाना शुरू कर दिया था। खुदाई में मिले सिक्कों से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी के अंत तक सिक्कों का काफी प्रचलन हो चुका था।

इस काल के लगभग अंत तक विज्ञान, चिकित्सा और तकनीकी को पूर्णकालिक पेशे के रूप में अपनाने का प्रचलन आरंभ हो गया था। पूरे उत्तरपथ से विद्यार्थी विषय विशेष के प्रशिक्षण के लिए तक्षशिला जैसे विद्या केंद्रों की ओर आने लगे थे। व्याकरणाचार्य पाणिनी चौथी शताब्दी के आसपास तक्षशिला में अध्ययन करते थे।

अत्रेय वहीं छठी शताब्दी में चिकित्सा विज्ञान पढ़ाते थे। अत्रेय के शिष्यों और उत्तराधिकारियों जीवक, कुमारभट्ट, भेला, पाराशर और अन्य लोगों ने ही भारत में अगले 1000 वर्षों तक चिकित्साविज्ञान के विकास में अत्यधिक योगदान दिया।

लगभग 800 से 600 वर्ष ईसा पूर्व के बीच एक नयी व्यवस्थित सामाजिक परंपरा ने जन्म लिया। यह वैदिक समाज की कमियों और न समाप्त होने वाले संघर्षों से मुक्त थी। छोटे-छोटे राज्य या जनपद बनने लगे। इन पर राजा राज्य करते थे और इनका शासन इन राजाओं द्वारा बनाये गये कानूनों और रीति-रिवाजों के अनुसार चलता था। ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में ऐसे सोलह जनपद थे। (चित्र)।

इन राज्यों की आय के स्रोत कृषि और व्यापार थे। इनमें राजा के साथ पुरोहित, विद्वान, सैनिक, व्यापारी, किसान, दस्तकार और निम्न कोटि के मजदूर होते थे। राजकाज को सुचारु रूप से चलाने और यह निश्चित करने के लिए कि शक्ति हमेशा धनवानों के हाथ ही में रहे।

पुरोहितों द्वारा चलायी गयी यह सामाजिक परंपरा जल्दी ही सुदृढ़ हो गयी। समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बँट गया। इस परंपरा की रक्षा के लिए यह बात फैलायी गयी कि यह ईश्वरीय व्यवस्था है। इसके भंग करने वाले पर दैवीय प्रकोप होगा।

3. **खगोलविज्ञान और गणित :** हम ऋग्वैदिक काल में खगोलविज्ञान के बारे में उपलब्ध ज्ञान के स्तर का वर्णन पहले कर चुके हैं। बाद में, इस युग में खगोलविज्ञान के क्षेत्र में हुआ ज्यादातर कार्य ऋग्वेद में वर्णित ज्ञान का ही विस्तार था क्योंकि इस युग में खगोलविज्ञान का विकास मुख्य रूप से यज्ञ समारोहों से उत्पन्न ज्योतिषीय परंपराओं से हुआ था। वास्तव में इस युग के अंतिम वर्षों में खगोलविज्ञान पथभ्रष्ट होकर फलित ज्योतिष बन गया था।

शुल्बसूत्रों में ज्यामिति का काफी उच्च स्तरीय ज्ञान लक्षित होता है। वैसे अंकगणित भी इस युग में उतना ही विकसित हो चुका था। लोगों को 10 के गुणनों की संख्याओं का ज्ञान 10^{12} (दस खरब) तक था और वे इन संख्याओं का उपयोग भी करते थे। उन्हें संख्याओं की सब संक्रियाएँ भी ज्ञात थीं। शुल्बसूत्रों में जोड़, घटा, गुणा, भाग और भिन्न का वर्ग निकालने के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। उनमें द्विघाती समीकरणों, अपरिमेय समीकरणों और क्रमचय का भी उल्लेख है।

4. **रसायनशास्त्र :** नये व्यवस्थित समाज में रसायनशास्त्र के ज्ञान और उपयोग की झलक विभिन्न स्थानों पर मिले मिट्टी के बर्तनों, लोहे के औजारों और काँच की वस्तुओं से मिलती हैं। आप चित्र में जिन लौह औजारों को देख रहे हैं वे लोहा गलाने के अत्यधिक विकसित ज्ञान के प्रतीक हैं। भारतीय धातुकर्मियों ने ईसा पूर्व पाँचवीं या चौथी शताब्दी तक लोहा और इस्पात बनाने की तकनीक में उच्चकोटि की कुशलता हासिल कर ली थी। 30 से अधिक स्थानों पर की गयी खुदाई में मिली काँच की वस्तुएँ भी यह संकेत करती हैं कि काँच के निर्माण का ज्ञान इस युग के अंतिम चरण में ही हुआ था (चित्र)।

5. वनस्पतिविज्ञान : काँस्य और लौह युगों में संसार भर में कृषि मनुष्य का प्रमुख व्यवसाय बन चुकी थी। इसलिए यह विचित्र बात नहीं है कि कृषि में प्रगति होने के साथ-साथ भारत में वनस्पतिविज्ञान और प्राथमिक पादक क्रियाविज्ञान (plant physiology) में भी प्रगति हुई। चिकित्साविज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति भी इन विज्ञानों के विकास में सहायक हुई। उदाहरण के तौर पर, ऋग्वैदिक मंत्रों में, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता आदि में निम्नलिखित विषयों पर यदा-कदा उल्लेख मिलते हैं—

- (i) पौधे के विभिन्न अंग, जैसे—मूल, तना, कंद, वल्स आदि।
- (ii) आकृति विज्ञान (morphology) और उपयोग के अनुसार पौधों का वर्गीकरण, जैसे—औषधि पौधे, वल्ली, गुच्छ आदि।
- (iii) पौधों को मिट्टी के अलावा पोषण प्रदान करने वाले पदार्थों, जैसे—गोबर आदि के अनुसार पौधों का क्रियाविज्ञान।

परन्तु वनस्पतिशास्त्र पर व्यवस्थित अध्ययन पराशर के बृहत् ग्रंथ 'वृक्षायुर्वेद' में हुआ जिसकी रचना लगभग पहली शताब्दी ईसा पूर्व में ही हुई थी। इस ग्रंथ में वनस्पतिशास्त्र और औषधिविज्ञान के क्षेत्र में उस समय तक उपलब्ध ज्ञान को शामिल किया गया था।

6. **प्राणी विज्ञान :** घोड़ों और हाथियों को पालतू बना लिये जाने और युद्धों में उनका उपयोग आरंभ होने से उनकी शारीरिक संरचना और क्रियाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करना जरूरी हो गया था। वैदिक साहित्य का सर्वेक्षण करने से पता चलता है कि उस समय 260 से भी अधिक जातियों के जंतुओं के बारे में जानकारी उपलब्ध थी। उस काल में जन्तुओं के वर्गीकरण और उनके आहारों के बारे में अध्ययन करने के प्रयत्न किये गये थे। मानव शरीर क्रियाशास्त्र का भी अध्ययन किया गया था। वैदिक काल के बाद के साहित्य में जन्तुओं के नामों और उनकी शारीरिक संरचना, शारीरिक क्रियाओं, भोजन आदि के बारे में प्रकृतिविज्ञान का काफी बड़ा भंडार है। हो सकता है कि इन प्रेक्षणों (observations) ने ही बाद में जीव-जंतुओं के वर्गीकरण, आनुवांशिकी, भ्रूणविज्ञान आदि की संकल्पनाओं को प्रभावित किया हो। परन्तु खगोलविज्ञान, गणित, रसायनशास्त्र, वनस्पतिविज्ञान और प्राणिविज्ञान के क्षेत्रों में हुई प्रगति, चिकित्साविज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति की तुलना में बहुत कम है।

7. **चिकित्सा विज्ञान में प्रगति :** आरंभिक वैदिक युग में रोगी का उपचार करना पुरोहित का कर्तव्य माना जाता था। रोगों को मनुष्य द्वारा किये गये पापों के लिए भगवान की सजा अथवा प्रेतों का प्रकोप माना जाता था। इन विचारों के साथ-साथ हमें वैदिक ग्रंथों में रोगों के उद्गम, औषधियों के उपयोग और शल्य चिकित्सा आदि के बारे में परिकल्पनाएँ भी मिलती हैं। चिकित्सा के ज्ञान की विज्ञान के रूप में आयुर्वेदिक संकल्पना का विकास बाद में हुआ।

(अ) **चिकित्सा की आयुर्वेदिक पद्धति :** पुनरवसू अत्रेय (ईसा पूर्व लगभग छठी शताब्दी) तक्षशिला में चिकित्सा विज्ञान पढ़ाते थे। उनके प्रत्येक शिष्य, जैसे—भेला, जातुकर्ण, हरिता, क्षारपाणी, पराशर ने औषधिविज्ञान पर ग्रंथों की रचना की थी। पतंजलि ने, जिनका काल ईसा पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी माना जाता है तथा उनके बाद अनेक विद्वानों ने भारतीय चिकित्सा पद्धति के मुख्य ग्रंथ चरक संहिता पर टीकाएँ लिखी थीं। आज चरक संहिता के केवल कुछ अंश ही उपलब्ध हैं और उसके बारे में आज हमें जो जानकारी है, वह मुख्यतः इन टीकाओं पर ही आधारित है। समझा जाता है कि चरक संहिता और शल्य चिकित्सा के मूल ग्रंथ सुश्रुत संहिता की रचना ईसा से 600 वर्ष पूर्व हुई थी। इन ग्रन्थों के लेखकों के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ लोगों का मत है कि इन ग्रंथों की रचना अकेले व्यक्तियों ने की थी जबकि अन्य लोग यह मानते हैं कि इनके लेखक विशेष समुदायों के समूह के चिकित्सक एवं शल्य चिकित्सक थे। इन ग्रंथों के मुख्य भाग में विभिन्न रोगों के लक्षणों और निदानों की सूची और बहुत ही सुचारु वर्गीकरण, रोगों की उपचार पद्धतियों का वर्णन है तथा औषधियों के गुण और उनके देने के तरीकों और खुराकों आदि का विवरण है। ये ग्रंथ इतने महत्वपूर्ण इसलिए हैं कि :

- (i) अपने दृष्टिकोण और तकनीकों में वे एकदम वैज्ञानिक हैं,
- (ii) उनका प्रभाव विज्ञान की अन्य शाखाओं, जैसे—रसायनशास्त्र तथा वनस्पतिविज्ञान आदि की प्रगति पर भी दिखायी देता है, तथा
- (iii) वे प्राचीन काल से ही आयुर्वेद के मुख्य स्रोत के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

(आ) **दृष्टिकोण और तकनीक :** उक्त ग्रंथों में, चिकित्सकों के लिए बताये गये दृष्टिकोण और विधियों से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं :

- (i) चिकित्सक केवल एक ही बात में रुचि रखता था और वह था रोगी का उपचार। इसके लिए वह झूठ तक भी बोल सकता था। उदाहरण के तौर पर, यदि रोगी को स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से मांस खिलाना आवश्यक होता था तो चिकित्सक उसकी धार्मिक और नैतिक मान्यताओं को दबाने के लिए कोई भी चालाकी अपना लेता था।
- (ii) चिकित्सक को अपना ध्यान केवल रोगी के उपचार पर ही केंद्रित रखना होता था। इसलिए उसे किसी भी

हालत में रोगी को कोई हानि नहीं पहुंचानी होती थी, चाहे इसके लिए स्वयं उसे अपने जीवन की बाजी लगा देनी पड़ती। चिकित्सक को रोगी से अपने पुत्र का भांति व्यवहार करना होता था।

(iii) चिकित्सा का ज्ञान पूर्व-चिकित्सकों से तथा चिकित्सा-संबंधी वाद-विवाद से प्राप्त किया जाता था।

(iv) अनुभव से पैदा हुआ ज्ञान पहली आवश्यकता थी। कहा जाता था कि सब किस्म के लक्षणों में वे ही सबसे अधिक प्रामाणिक होते हैं जो आँख से दिखाई देते हैं। किसी भी जानकार चिकित्सक को केवल तर्क के आधार पर रोगी की परीक्षा करना मना था। चिकित्सक औषधि का प्रभाव सीधे प्रेक्षण द्वारा मालूम करते थे।

(इ) निदान और फलानुमान : रोग का निदान तथा फलानुमान प्रत्यक्ष रूप से देखकर, सुनकर, सूँघकर और रोगी के सब अंगों को छूकर तथा अप्रत्यक्ष रूप से नाड़ी की जाँच करके किया जाता था।

इन प्रेक्षणों को अकेले तथा संयुक्त रूप से विशेष रोगों के साथ जोड़कर किया जाता था। इस प्रकार फोड़े में चिकित्सक उसमें से झागदार रक्त के साथ वायु के तेजी से निकलने की ध्वनि को सुनता था। इसी प्रकार अंतड़ियों की गुड़गुड़, जोड़ों की चटकने की आवाज और जबान में बदलाव तथा अन्य लक्षणों को चिकित्सक देखता था। चिकित्सक अपना निदान प्रत्यक्ष प्रेक्षणों पर ही नहीं वरन् रोगी के घर, जाति, रहन-सहन के तरीके, आहार तथा रोगों के इतिहास के आधार पर भी करता था। फलानुमान इस सिद्धांत पर आधारित था कि एक होशियार चिकित्सक को असाध्य रोगी का उपचार नहीं करना चाहिए। इसके अनुसार अरिष्टों या अपशकुनों (रोग की प्रकृति के अनुसार वर्गीकृत) की, जिनसे रोगी की मृत्यु हो जाती थी, अधिक जांच की जाती थी।

(ई) उपचार विधियाँ : सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपचार विधियों को निम्न समूहों में बाँटा गया था—वमन उत्पन्न करना, रेचक देना (पेट की सफाई के लिए), एनीमा देना, तैलीय एनीमा देना और नासीय चिकित्सा आदि। रोगों के अनुसार इनका उपयोग किया जाता था। चरक और सुश्रुत संहिताओं में इन उपचार विधियों के इस्तेमाल में संभावित दुर्घटनाओं की सूची भी दी गयी है। इनमें रोगों का विस्तृत वर्गीकरण भी दिया गया है।

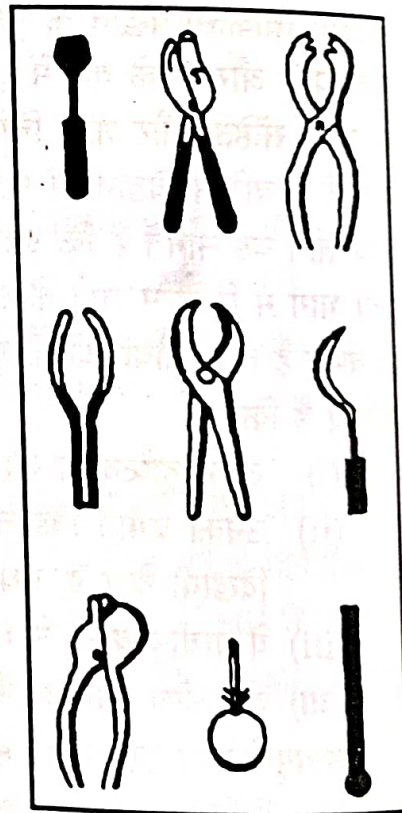
आरोग्यवर्धक (स्वास्थ्य बढ़ाने वाले) पदार्थों को उपचारी और निरोधक औषधियों में बाँटा गया था। चरक के अनुसार ये औषधियाँ जंतु, पादक (जड़ी-बूटियाँ) और खनिज उद्गम की होती थी। औषधियों को एक अन्य पद्धति के अनुसार भी वर्गीकृत किया गया था, जैसे—औषधि के प्रभाव के अनुसार—वामक, रेचक आदि। इन वर्गों को उनके द्वारा होने वाले आरोग्य लाभ के अनुसार पचास समूहों में फिर बाँटा गया था।

(उ) शल्य चिकित्सा : शल्य चिकित्सा का प्रमुख ग्रंथ सुश्रुत संहिता है। इसमें रोगों के लक्षणों तथा उनकी चिकित्सा के साथ-साथ मानव शरीरक्रिया शास्त्र, शरीर रचना, विशेष रूप से आंतरिक अंगों की संरचना की काफी विस्तार से चर्चा की गयी है। उदाहरण के तौर पर, व्रणों या घावों के उपचार के बारे में यह बताया गया है कि उनमें औजारों का प्रयोग करते समय नाजुक अंगों, जैसे—शिराओं, अस्थियों आदि को बचाना चाहिए। संहिता में स्थानीय लोहारों द्वारा बनाये जाने वाले लोहे के औजारों की, जो गले-सड़े अंगों को शरीर में से निकालने में प्रयोग किये जाते थे, उनकी धार, आकृति, आकार आदि के संबंध में, विस्तार से चर्चा है (चित्र)।

इस संहिता के दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं :

(i) घावों की चिकित्सा के पहले और बाद में सफाई के बारे में विशेष सतर्कता : इससे संक्रमण के बारे में अनुभव पर आधारित ज्ञान का आभास होता है।

(ii) संवेदनाहारी औषधियों का उपयोग : यद्यपि शल्य चिकित्सा से पूर्व रोगी को बहुत मजबूती से बाँध देने की सलाह दी गयी थी, जिससे वह शल्य चिकित्सा के दौरान हिले नहीं, पर यह भी सुझाया गया कि उसे शल्य चिकित्सा से



चित्र : सुश्रुत संहिता में वर्णित सुश्रुत के चीर-फाड़ के औजारों का एक कलाकार द्वारा रेखांकन।

पहले मदिरा पिला देनी चाहिए जिससे वह पीड़ा के कारण बेहोश न हो पाये। साथ ही उसे औजार की चुभन भी महसूस न हो।

इस प्रकार हमें वैदिक तथा उत्तरवैदिक काल में भारत की चिकित्सा पद्धति में अपनाये गये वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तकनीक का पता चलता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि चरक और सुश्रुत के शिष्य अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण धर्माधिकारियों के क्रोध का कारण बन गये थे। इसका कारण संभवतः यह था कि वे धर्माधिकारियों के विचारों के विरुद्ध थे। यह धर्माधिकारी प्रायः ऐसे मंत्र कह कर कि “देवता रहस्य पसंद करते हैं” या “देवताओं को रहस्य पसंद है, वे प्रेक्षण से घृणा करते हैं”, अपनी जीविका अर्जित करते थे। भारतीय चिकित्सक अपने व्यवसाय में उच्च और निम्न जातियों में भेद नहीं करते थे। यह भी एक कारण था जिससे पुरोहित वर्ग चरक और सुश्रुत को पसंद नहीं करते थे।

यह कहना सही नहीं होगा कि चिकित्सक उस समय समाज में प्रचलित धारणाओं और अंधविश्वासों के प्रभावों से एकदम मुक्त थे। ब्रह्मांड उत्पत्ति सिद्धांत अर्थात् ब्रह्मांड, पृथ्वी और जीवधारियों के जन्म से संबंधित दर्शनशास्त्र की धारणा की झलक आयुर्वेद में भी मिलती है। उदाहरण के तौर पर, सब बीमारियों के लिए तीन दोषों—वायु, पित्त और कफ, को उत्तरदायी ठहराना इसी प्रकार का एक प्रभाव था। आरोग्य प्रदान करने वाली वस्तुओं के गुणों को पंचतत्त्वों (पंचभूत)—पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश से जोड़ देना एक ऐसा ही उदाहरण है। परंतु तत्कालीन दार्शनिक और धार्मिक हठधर्मिता वैद्यों को उन औषधियों को जिन्हें वे आरोग्य लाभ के लिए आवश्यक समझते थे, रोगी को देने में कोई बाधा उपस्थित नहीं करती थी।

आयुर्वेद के अनुसार त्रिदोश—वात, पित्त और कफ, सभी जीवित प्राणियों में विद्यमान होते हैं। यह माना जाता है कि शरीर में इन दोषों की अधिकता, कमी या असंतुलन के कारण बीमारियाँ पैदा होती हैं।

यह वास्तव में बहुत खेद का विषय है कि चिकित्सा विज्ञान जिसका शुभारंभ इतने सुचारु व अनुभवजन्य प्रेक्षण से हुआ था, कभी भी इन प्रेक्षणों के वर्गीकरण के स्तर से आगे नहीं बढ़ पाया। वह कभी भी वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित नहीं हो पाया।

ज्ञान के इस अपार भंडार के आधार पर कोई भी सामान्य नियम अथवा सिद्धांत नहीं बनाया जा सका। तीसरी या चौथी शताब्दी के बाद तो चिकित्सा विज्ञान खोजपूर्ण प्रेक्षण पद्धति पर कम और 'जादुई' कारनामों पर अधिक आधारित होने लगा। इस प्रकार की गतिहीनता के अनेक कारण थे। इसका एक कारण रूढ़िग्रस्त धार्मिक विचारधारा से मिलने वाला विरोध था।

हमें यह भी पता चलता है कि इस युग में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति पिछले युग से बहुत भिन्न थी। काँस्य युग में जैसे-जैसे लोगों के सामने जीवन संग्राम अथवा श्रेष्ठ जीवन जीने की समस्याएँ सामने आती रहीं, वे औजार, धातुकर्म, जलयान निर्माण अथवा चिकित्सा संबंधी नयी खोजें करते रहे और तकनीकें विकसित करते रहे। यह एक सार्वभौमिक घटना थी कि उत्पादन में लगे व्यक्ति बड़ी संख्या में कुछ हद तक आविष्कार भी करते थे। परंतु लौह युग में नये आविष्कार करने, प्रेक्षणों के आधार पर सामान्य नियम बनाने, लोगों का उपचार या आगे आने वाली पीढ़ियों तक ज्ञान पहुँचाने का काम राज्य पर आश्रित कुछ ही लोगों तक सीमित रह गया था। पर इस पद्धति के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू थे।

सकारात्मक पहलू के रूप में इस पद्धति ने प्रेक्षण और प्रयोग करने या किसी जटिल समस्या का बहुत गहराई से व्यवस्थित अध्ययन करने अथवा दैनिक जीवन के झंझट-झमेलों से मुक्त रहने के अवसर प्रदान किये। दूसरी ओर इस पद्धति ने विद्वानों को व्यावहारिक लोगों से अलग कर दिया। इसने सिद्धांत और प्रयोग के बीच होने वाली अंतःक्रियाओं को कठिन बना दिया। इससे अमूर्त ज्ञान और अंधे अनुकरण की आशंकाएँ बढ़ने लगी। यह भारतीय विज्ञान के लिए भी और यूनानी विज्ञान के लिए भी सत्य है।

(ख) यूनान में वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल अर्थात् लौह युगीन विश्व के इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू था—भारत और यूनान में संस्कृतियों का एक-सा विकास है। इन दोनों देशों में आपस में व्यापार होता था। इन दोनों के बीच जानकारी का आदान-प्रदान पहले पश्चिम एशिया कि माध्यम से होता था। बाद में, ईसा पूर्व 327 में उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण के फलस्वरूप यह सीधा होने लगा (चित्र)। इस प्रकार यह कहना सरल है कि भारतीयों और यूनानी विद्वानों की ब्रह्मांड उत्पत्ति की परिकल्पनाओं ने तथा चिकित्सा विज्ञान और शल्य चिकित्सा के ज्ञान ने एक-दूसरे को इन संपर्कों के माध्यम से प्रभावित किया हो।

भारतीय और यूनानी सभ्यताओं में एक समानता थी—एक ही काल में, एक जैसे ही विभिन्न वर्गों से युक्त समाज का गठन। जब भारत में जाति प्रथा ने परिश्रम वाले सब कार्यों को निम्न जातियों पर थोप दिया था, तब यूनान में परिश्रम के कार्य दास ही करते थे। दस्तकारों और हाथ से काम करने वाले लोगों को मानसिक कार्य करने वालों और विचारकों से निश्चय ही हीन समझा जाता था। यद्यपि मुक्त नागरिक भी हस्त कलाओं के क्षेत्र में काफी कार्य करते थे, पर उन्हें दासों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती थी। इसलिए उनके कार्यों को भी हीन समझा जाता था। इस विचारधारा ने जैसे कि हम पहले देख चुके हैं, तकनीकी को विचारशील विज्ञान से दूर कर दिया। ऐसा भारत में भी और यूनान में भी हुआ। इसने व्यावहारिक कार्यों पर विचार करने वालों के प्रभाव को और चिंतन पर व्यवहार के प्रभावों को कम कर दिया। शासन द्वारा विचारकों और अध्यापकों को संरक्षण प्रदान करने से उस युग में विज्ञान के विकास को एक विचित्र मोड़ मिला।

आरंभ में इससे यूनान में ज्यामिति, यांत्रिकी, चिकित्सा विज्ञान और ब्रह्मांड की उत्पत्ति जैसे विज्ञान विकसित हुए। पर अंत में उसने यूनानी विज्ञान को बहुत अधिक चिंतनशील और अमूर्त बना दिया। अमूर्त होने से विज्ञान जीवन से एकदम अलग हो गया। अंततः ऐसी प्रणालियाँ विकसित हो गई जिन्हें कोई चुनौती नहीं दे सकता था और फिर वे प्रकृति के 'अटूट नियम' बन गये। ये नियम अगले 2000 वर्षों तक विज्ञान की प्रगति में मुख्य आधार बने रहे।

भारत में भी अमूर्तता अवश्य आयी और भौतिकी और ब्रह्मांड की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में ही। चिकित्सा विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान और कृषि विज्ञान ने प्रेक्षण से अपने मजबूत संपर्क बनाये रखे। इसके अतिरिक्त चिकित्सा विज्ञान में उपचार के लिए समाज द्वारा वहिष्कृत मांस तथा अन्य पदार्थों का उपयोग आवश्क था। उपचार करते समय और रोगी की जान बचाने के लिए चिकित्सक अपने कर्म और अन्य प्राचीन सिद्धान्तों की परवाह नहीं करते थे। इससे धार्मिक और न्यायिक अधिकारी उनकी निंदा करने लगे और परिणामस्वरूप तीसरी से चौथी शताब्दी ईस्वी में चिकित्सा विज्ञान में गतिहीनता आ गयी।

यह जानना रोचक होगा कि विज्ञान पर तत्कालीन विचारधारा और धार्मिक प्रणालियों के प्रभावों के बारे में भारतीय और यूनानी विज्ञानों में मूलभूत अंतर थे। इस युग के भारतीय वैज्ञानिक ग्रंथ सदैव ही देवत्व के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने से आरंभ होते थे। परंतु वास्तविक पाठ, ब्रह्मांड की उत्पत्ति से अथवा कुछ हद तक चिकित्सा विज्ञान से (पंचभूतों और त्रिदोषों के बारे में विचार) संबंधित ग्रंथों के अतिरिक्त दार्शनिक प्रेरणा आदि से मुक्त रहते थे। पर यूनानी विज्ञान तत्कालीन सामाजिक दर्शन और विचारधारा से अधिक प्रभावित था। इस बारे में डेमोक्रीटम और हिप्पोक्रेटिज आदि की रचनाएँ कुछ अपवाद थीं। यूनानी विज्ञान में वह युग जिज्ञासा का युग था। दार्शनिक वैज्ञानिक हमेशा ही कार्य और कारण के बीच संबंध ज्ञात करने के लिए उत्सुक रहते थे। परन्तु प्रायोगिक उपकरणों के अभाव में और तत्कालीन



चित्र : अरस्तू ने अपना सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिगत वैज्ञानिक कार्य जीवविज्ञान के क्षेत्र में किया। उन्होंने कुछ समुद्री जीवों, मधुमक्खियों और उनसे संबंधित बीमारियों का गहराई से अध्ययन किया।

दास प्रथा को मान्यता देने वाले सामाजिक ढाँचे की वजह से वैज्ञानिक अपने हल उस समय की सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल ही खोजते थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के आरंभिक यूनानी दार्शनिकों, जैसे—थेल्स, एपेडोवलीज और पाइथागोरस ने देवताओं की मदद के बिना विश्व उत्पत्ति की कल्पना की थी। चार तत्वों—पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि का सिद्धांत आयोना के इन्हीं अग्रज दर्शनशास्त्रियों की देन माना जाता है।

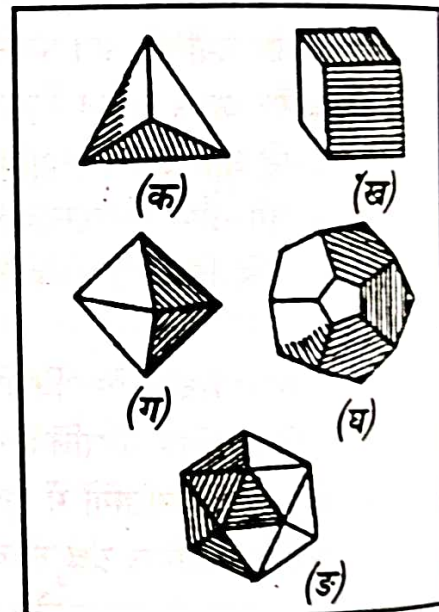
अरस्तु (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) एक अंग्रेज यूनानी दर्शनशास्त्री थे जिन्हें विज्ञान के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उन्होंने आयोना के दर्शनशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित विश्व उत्पत्ति के सिद्धांत का विरोध किया। उनके विचार में विश्व हमेशा से ऐसा ही था जैसा कि उस समय था और वह हमेशा वैसा ही रहेगा। क्योंकि उसका ऐसा रहना ही तर्कसंगत है। इस विश्व में हर वस्तु, चाहे वह विकासवृक्ष के निम्न स्तर में स्थित मछली हो अथवा यूनानी नगर का दास, हर कोई अपना स्थान जानता था और अधिकांशतः उसी स्थान पर रहता था। इस व्यवस्था में जड़ वस्तुएँ केवल उसी समय गति में आती हैं जब वे अपने स्थान से हटाई जाती हैं और पूर्वनिर्दिष्ट व्यवस्था में अपने मूल स्थान को लौटना चाहती हैं।

उदाहरण के रूप में, पत्थर को ऊपर हवा में फेंकने पर हमेशा ही वह धरती की ओर आ जाता है। अग्नि की लपटें स्वर्ग की अग्नि से मिलने ऊपर की ओर जाती हैं। जीवधारी इसलिए गतिमान होते हैं क्योंकि ऐसा करना उनकी प्रकृति है।

इस प्रकार हवा में उड़ना पक्षियों का और पानी में तैरना मछलियों का स्वभाव है। इसी प्रकार उन्होंने प्रकृति में विद्यमान सब गतियों को पूर्वनिर्दिष्ट कारणों के आधार पर समझाने के प्रयत्न किये थे। अरस्तू ने कभी भी किसी से कोई ऐसी बात नहीं की जिस पर उसे पहले से ही विश्वास न हो। उन्होंने समझाया था कि दुनिया वैसी ही है जैसी कि वे उसे जानते हैं। जब तक दुनिया एक जैसी ही रहती अरस्तू के सिद्धांत सही माने जाते। परन्तु जैसा कि हम देखते हैं कि विश्व एक जैसा नहीं रहा और लोगों ने अरस्तू के सिद्धांतों को चुनौती दी, यद्यपि ऐसा होने में लगभग 2000 वर्ष का काफी लंबा समय लगा। वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में यूनान में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास का विवेचन निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत किया जा सकता है—

1. **ज्यामिति और खगोलविज्ञान :** पूर्ण आकारों और अनुपातों को दर्शाने की आवश्यकता ने पाइथागोरस (582-500 वर्ष ईसा पूर्व) और किओस के हिप्पोक्रेटीज (लगभग 450 वर्ष ईसा पूर्व) को ज्यामिति करने के लिए प्रेरित किया (चित्र)।

हिप्पोक्रेटीज ने स्वयं वृत्त का वर्ग तैयार करने और घन को दुगुना करने आदि समस्याओं को हल करने के प्रयत्न किये जिनका लंबे समय से उत्तर नहीं मिल रहा था। वे दोनों समस्याओं को हल नहीं कर सके, पर उन्होंने वर्गों की ज्यामिति के द्वार खोल दिये। यूडोक्सस (408-355 ईसा पूर्व) सबसे महान यूनानी गणितज्ञ थे। उन्होंने ऐसे संकेद्रित गोलों (concentric spheres) के सेटों (समुच्चयों), जिनमें प्रत्येक की दूरी गोले के बाहर एक ही धुरी में निहित थी, के द्वारा सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की गति समझाने के प्रयत्न किये (चित्र)। उनका मॉडल बहुत सरल और अपक्व था जिससे उस समय तक ज्ञात तथ्यों को समझाया नहीं जा सकता था। परन्तु मॉडल पर आधारित वास्तविक धातु के गोलों ने लंबे समय तक अधिकांश खगोलीय उपकरणों का आधार प्रदान किया है।



चित्र : ग्रीक द्वारा अध्ययन किये गये पाँच समफल के ज्यामितीय ठोस : (क) चतुष्फलक, (ख) घन, (ग) अष्टफलक, (घ) विंशफलक, (ङ) द्वादशफलक। इन सभी ठोस पदार्थों में फलक का क्षेत्रफल और आकार समान था। इन सभी आविष्कारों का श्रेय ग्रीक गणितज्ञ और दार्शनिक पाइथागोरस को जाता है।

लगभग 300-200 वर्ष ईसा पूर्व में ज्यामिति की परंपरा, जो एथेंस की अकादमियों और विद्यालयों के विद्वत्तापूर्ण वातावरण में पनती थी, सिकंदरिया के संग्रहालय में जा पहुँची। यूडोक्सस की ज्यामिति में परगा के एपोलोनियस (लगभग 220 वर्ष ईसा पूर्व) ने विस्तार किया। उन्होंने शंकु परिच्छेद, जैसे—दीर्घवृत्त, पैराबोला और हाइपरबोला, पर अनुसंधान किये (देखें चित्र)।

गणित के पूर्वज्ञान के बड़े अंश को एकत्रित करके यूक्लिड (लगभग 300 वर्ष ईसा पूर्व) ने स्वयंसिद्धियों (axioms) से निगमन के आधार पर ज्यामिति की नींव डाली जो आज भी स्कूलों में पढ़ाई जाती है।

खगोल विज्ञान का संबंध सिद्धांत और प्रयोग दोनों से था। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो के अनुसार, खगोल विज्ञान आकाश में एक आदर्श विश्व का अध्ययन था और इस आदर्श स्थिति से जो विचलन दिखाई देते थे, उन्हें छोड़ा जा सकता था। दूसरी ओर, तारों और ग्रहों की स्थिति ज्ञात करना भी महत्वपूर्ण था। परिणामस्वरूप यूनानी खगोलशास्त्रियों ने प्रेक्षणों से प्राप्त परिणामों के अनुसार जटिल मॉडलों का आविष्कार किया।

ये मॉडल एक आदर्श, सरल और सुंदर संसार की कल्पना को भी दर्शाते थे। खगोल विज्ञान के गणितीय आधार यूक्लिड के गोले थे। पर वास्तविक ग्रहों की गति को जानने के लिए हिप्पारकस (190-120 वर्ष ईसा पूर्व) ने एक चपटे मॉडल को अपनाया था।

यह 'पहिये के अंदर पहियों' का मॉडल था। उन्होंने खगोल विज्ञानी उपकरणों का भी आविष्कार किया जिनमें से अधिकांश अगले 2000 वर्षों तक इस्तेमाल होते रहे।

सिकंदरिया का संग्रहालय पश्चिम में पहला संस्थान था जिसे राज्य का समर्थन प्राप्त था। इसमें खगोलविज्ञान, प्रकाशविज्ञान, यांत्रिकी और गणित की प्रगति हुई। अगले 2000 वर्षों में इनमें कोई खास प्रगति नहीं हुई।

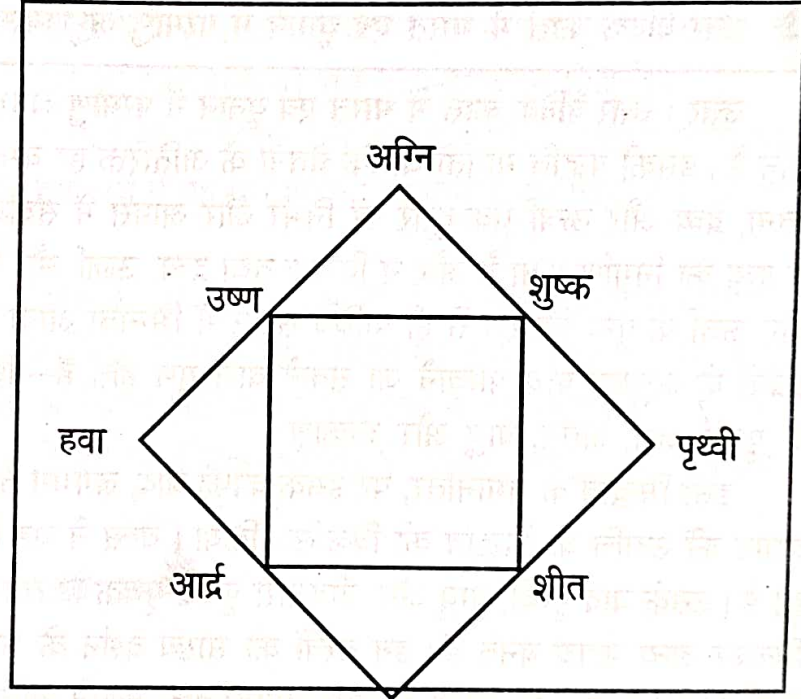
2. **यांत्रिकी :** विज्ञान की एक अन्य शाखा, जिसमें यूनानी सभ्यता ने सर्वाधिक योगदान दिया, वह है यांत्रिकी। यांत्रिकी का विकास सिंचाई करने, भारी वस्तुओं को लाने-ले जाने, जलयान बनाने और सैनिक उपकरण बनाने की आवश्यकताओं से हुआ।

जब सिकंदर की फौजें मध्य पूर्वी देशों के दस्तकारों के संपर्क में आई तब अनेक आविष्कारों, जैसे—घिरनी, बेलन-चरखा और पेंच (स्क्रू) आदि का उपयोग किया जाने लगा। साथ ही उनमें सुधार होने लगा।

आर्किमिडीज (287-212 ई.पू.) ने यंत्र बनाने की इस प्रक्रिया में अपने बलों के सिद्धांत तथा तैरती हुई वस्तुओं और द्रव स्थिति विज्ञान के अध्ययनों से बहुत योगदान दिया। इस सिद्धांत के अनुसार किसी पदार्थ को स्थिर अवस्था में रखने के लिए उस पर लगने वाले बलों का संतुलित रहना जरूरी है।

3. चिकित्सा विज्ञान : एक अन्य क्षेत्र जहाँ यूनान में हुई प्रगति भारत के बराबर थी, वह था चिकित्सा विज्ञान। हालाँकि इसकी प्रगति में दोनों देशों में दो विपरीत स्रोतों से प्रोत्साहन मिला था। भारत में चरक और सुश्रुत के शिष्य परिव्राजक चिकित्सक थे जो गाँव-गाँव घूमकर सामान्य नागरिकों का उपचार करते थे और लोकतांत्रिक विचारधारा फैलाते थे। दूसरी ओर, यूनान में चिकित्साशास्त्री अपनी प्राचीन परंपराओं को इसलिए आगे बढ़ा सके क्योंकि उन्हें अभिजात्य वर्ग का समर्थन प्राप्त था। इस युग में यूनानी समाज का उन्नति के शिखर पर पहुँचने के बाद पतन शुरू हो चुका था। भोग-विलास और हर चीज की अधिकता के कारण वहाँ का धनी वर्ग अस्वस्थ जीवन बिताने पर बाध्य हो चुका था। इसलिये वह चिकित्सकों पर पूरी तरह निर्भर हो गया। सिकंदरिया के संग्रहालय ने शरीर रचना और शरीर क्रियाविज्ञान में अनुसंधान को बढ़ाने में बहुत मदद की।

कोस के हिप्पोक्रेटीज यूनानी चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व व्यक्ति थे। उनके ग्रंथों में (जिनकी रचना 450 से 350 ईसा पूर्व के बीच हुई थी) अनेक रोगों के लक्षण दिये गये हैं, ये लक्षण सावधानी से किये गये प्रेक्षणों पर आधारित हैं। इनमें रोगों के जादुई



चित्र : ग्रीक के विचारक एम्पेडोक्लीज द्वारा बनाये गये चार तत्व। एम्पेडोक्लीज के अनुसार, “मूलभूत पदार्थ” का विभिन्न वस्तुओं में बदल जाना इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-सा मुख्य गुण उसे प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, मूलभूत पदार्थ में मूल गुणों—शीतल और शुष्क के मेल से पृथ्वी बनेगी, शीत और आर्द्र मिलने पर जल बनेगा, उष्ण और शुष्क मिलने पर अग्नि बनेगी, उष्ण और आर्द्र मिलकर वायु बनेगी।

अथवा धार्मिक कारणों और उपचारों का वर्णन नहीं है। परंतु चिकित्सा विज्ञान के बारे में हिप्पोक्रेटिज के मूल मत के प्रभाव को 'चार दोषों के सिद्धांत' ने कम कर दिया। इस सिद्धांत को सबसे पहले आयोना के दार्शनिक एंपेडोक्लीज ने प्रस्तुत किया था (चित्र)। उनकी विचारधारा चिकित्सा विज्ञान के सिद्धांतों और पेशे के लिये अत्यंत हानिकारक सिद्ध हुई।

उस समय के एक महान् चिकित्सक हेरोफिलस (लगभग 300 वर्ष ईसा पूर्व) प्रेक्षण और प्रयोगों में विश्वास रखते थे। तंत्रिकाओं की कार्य प्रणाली समझने वाले ये पहले व्यक्ति थे। वे संवेदी (sensory) और प्रेरक तंत्रिकाओं (motor) में भेद करते थे और नाड़ी देखकर रोग के लक्षणों का अनुमान लगाते थे। इरासिसट्रेटिक्स (लगभग 280 वर्ष ईसा पूर्व) उनसे भी आगे बढ़ गये थे। उन्होंने मानव मस्तिष्क की विशिष्ट संरचना के महत्त्व का पता लगाया। दुर्भाग्य से इस काल के अधिकांश महत्त्वपूर्ण मूल ग्रंथ खो गये हैं। परंतु इनकी महत्त्वपूर्ण खोजों का सार गालेन (130-200 ईस्वी) ने दृढ़ निकाला और उसमें वृद्धि भी की। गालेन अरबी और मध्ययुगीन चिकित्सा विज्ञान के संस्थापक थे और इस क्षेत्र में उनका उतना ही सम्मान था जितना अरस्तू का। उन्होंने अपने अध्ययनों के लिए जानवरों की चीरफाड़ की और उससे शरीर रचना के बारे में बहुत ज्ञान प्राप्त किया। गालेन द्वारा दिया गया शरीर क्रिया विज्ञान जिसमें धमनियों और शिराओं में बहते रक्त के ज्वार-भाटे और जीवात्माओं का प्रवाह, शरीर को उष्मा प्रदान करने वाला हृदय, पंखों की तरह शरीर को ठंडक पहुँचाने वाले फेफड़े आदि हैं, मानव शरीर का चित्रण व्यापक रूप से करता तो अवश्य हैं, पर वास्तविक नहीं है। जहाँ तक शारीरिक क्रियाओं को समझाने का प्रश्न था, गालेन भी तीन भाव और आत्माओं के प्राचीन सिद्धांत से ऊपर नहीं नहीं उठ पाये। इस सिद्धांत के कारण अपने शरीर के बारे में जानने के मनुष्य के प्रयासों में अगले 1500 वर्षों तक विशेष प्रगति नहीं हो पायी।

□ मध्यकालीन अरब जगत के वैज्ञानिक इतिहास एवं वैश्विक प्रभाव का वर्णन करें।

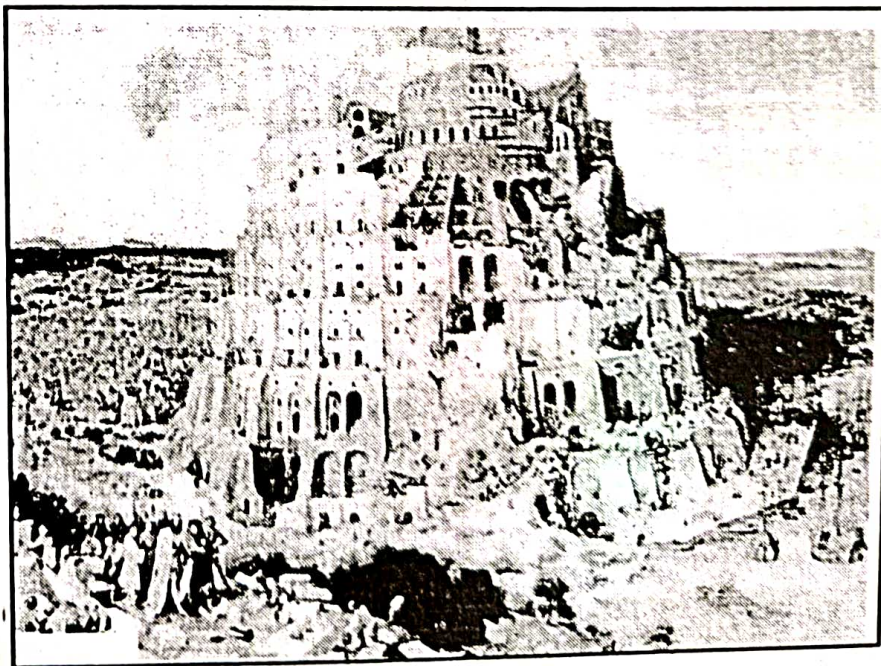
उत्तर :

मध्यकालीन अरब जगत का वैज्ञानिक इतिहास एवं वैश्विक प्रभाव

आज हम चाहे अल-जबरा (बीजगणित) की बात करें या अल-कीमिया और अल-गोरिदम की, हम पाएंगे कि सभी की उत्पत्ति एक ही जगह से हुई है। अगर अल-जबरा नहीं होता तो आधुनिक गणित और भौतिकी (फिजिक्स) जैसे विषय भी नहीं होते। वहीं पैटर्न को समझने के विज्ञान अल-गोरिदम के बिना कंप्यूटर विज्ञान जैसे विषयों का होना भी संभव नहीं था। बगदाद, दमिश्क, काहिरा और कार्डोबा में 9वीं शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी के बीच विज्ञान के क्षेत्र में शानदार काम हुआ था। दुनिया की सभ्यताओं के बीच विज्ञान से जुड़ी जानकारियों के आदान-प्रदान का सिलसिला सदियों से चलता रहा है। वैज्ञानिक अपने व्यक्तिगत विचार (आइडिया) दूरदराज के देशों, जैसे—ग्रीस, भारत और चीन के वैज्ञानिकों के साथ साझा कर रहे थे।

इन वैज्ञानिकों ने एक-दूसरे के विचारों पर मंथन किया। उन्हें आपस में मिलाकर उन्होंने विज्ञान को विकसित किया। उस वक्त दुनिया में विज्ञान के जितने भी बड़े केंद्र थे, उनमें बगदाद का नाम सब जानते थे। बगदाद में उस वक्त सबसे मजबूत वैज्ञानिकों और विचारों की एक विस्तृत शृंखला का जमघट था। यही वजह थी कि बगदाद को उस दौर में विश्व का केंद्र कहा जाने लगा था। बगदाद एक नया शहर था। इसे 762 ईसवी में खलीफा अल-मंसूर ने बनवाया था। वे चाहते थे कि बगदाद इस्लाम द्वारा एकजुट हुए साम्राज्य की गौरवशाली राजधानी बने। ये वो दौर भी था जब इस्लाम बहुत तेजी से फैल रहा था। तभी खलीफा अब्बासिद ने ये घोषणा कर दी कि शासन करने का अधिकार सिर्फ उनके पास है क्योंकि वो सीधे पैगंबर मोहम्मद से संबंधित थे जिन्होंने इस घटना से करीब 100 साल पहले नए धर्म की स्थापना की थी। इसके बाद इस्लाम की सेनाओं ने बहुत ही कम समय में एक विशाल क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसकी शुरुआत मदीना के आसपास एक छोटे से इलाके से हुई थी, जो अब सऊदी अरब कहलाता है, लेकिन बहुत तेजी से ये लोग अरब प्रायद्वीप में फैल गए और कुछ दशकों में उन्होंने लेवेंट, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और फारस के एक बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया।

विज्ञान की उन्नति के कारण : सीजर और नेपोलियन जैसे समारों को देखकर आठवीं शताब्दी की शुरुआत में ही इस्लाम के खलीफा को ये बात समझ आ गई थी कि राजनीतिक शक्ति और वैज्ञानिक ज्ञान, दोनों साथ-साथ चलते हैं। इसके कई कारण थे जिनमें से कुछ बहुत ही व्यावहारिक थे, जैसे—चिकित्साकीय ज्ञान जीवन बचा सकता है, सैन्य तकनीक की मदद से युद्ध जीते जा सकते हैं तथा गणित की मदद से राज्य की वित्त संबंधी जटिलताओं से निपटा जा सकता है।



चित्र : बेबेल का टावर

एक धर्म के रूप में इस्लाम ने भी एक मौलिक भूमिका निभाई पैगंबर मोहम्मद ने भी उन पर विश्वास करने वालों से कहा था कि ज्ञान की तलाश में भले ही चीन क्यों न जाना पड़े, पर जब कुछ नया सीखने को मिले तो उस मौके को खोना नहीं चाहिए।

इसके अलावा भी कई कारण थे जिन्होंने स्थितियाँ बदली। मसलन, इस्लामिक साम्राज्य के अभिजात वर्ग के कुछ शासकों ने ये कहना शुरू किया कि ज्ञान एक 'स्वार्थी उद्देश्य' के लिए भी हासिल करना चाहिए। उन्होंने कहा कि इस्लाम जैसे एक नए साम्राज्य के लिए ये इसलिए भी जरूरी है ताकि वह बाकी दुनिया को ये प्रमाण दे सके कि उनका साम्राज्य औरों से श्रेष्ठ है। हालाँकि, इसमें एक समस्या भी थी। वो समस्या ये थी कि खलीफा को अब न सिर्फ सैन्य और राजनीतिक सफलता की चिंता करनी थी, बल्कि बड़ी बुद्धिमानी से एक विशाल विविध आबादी को भी नियंत्रित करना था। दरअसल, एक बड़े इलाके में लोगों ने इस्लाम कबूल तो कर लिया था और इस्लामिक साम्राज्य का विस्तार भी हो गया था, लेकिन साम्राज्य में पड़ने वाले इलाके बहुत दूर-दूर थे। वहाँ की परंपराएं और भाषा अलग-अलग थी।

आठवीं शताब्दी के मध्य में इस्लामिक साम्राज्य के नेता, खलीफा अब्दुल मलिक को भाषाओं की इस समस्या का प्रबंधन करने का एक तरीका ढूँढना पड़ा। उनका ये समाधान पैमाने पर तो भारी था, लेकिन उसने अनजाने में ही एक वैज्ञानिक पुनर्जागरण की नींव रखी। नौकरशाही की अराजकता को नियंत्रित करने के लिए अब्दुल मलिक ने तय किया कि इस्लाम इतने बड़े साम्राज्य (भूमि) को सिर्फ बेबेल के टावर से नियंत्रित नहीं कर सकता। वे चाहते थे कि पूरे साम्राज्य की एक ही भाषा हो, जिसे वो भी समझ सके, इसलिए एक नई भाषा के तौर पर उन्होंने 'अरबी' की माँग की। इस भाषा में वैज्ञानिक सोच का परिणाम तत्काल दिखने लगा। विभिन्न देशों के अकादमिक लोग, जिनके पास पहले संवाद करने का कोई तरीका ही नहीं था, अब एक भाषा बोलने लगे थे। कुरान के खुशनवीसों से कहा गया कि वो ये सुनिश्चित करें कि भाषा के कुछ अक्षर आसान हों, उसमें चिन्हों का इस्तेमाल हो और उन्हें जोड़कर लिखा जा सके। इसके पीछे एक मकसद तो ये ही था कि भाषा इतनी सटीक और स्पष्ट हो कि उसका इस्तेमाल वैज्ञानिक और तकनीकी कार्यों में भी किया जा सके। साथ ही खलीफा चाहते थे कि दुनिया के विभिन्न हिस्सों के शिक्षाविदों के बीच चर्चा हो सके, जो उस समय तक एक-दूसरे को देखकर ही क्रोधित हो जाया करते थे। ये भी एक बड़ी सच्चाई रही है कि अकादमिक लोग सिर्फ ज्ञान अर्जित करने के लिए इतने प्रेरित नहीं हो सकते, इसलिए पैसा भी एक बड़ी वजह था।

इस्लामिक साम्राज्य के शासकों ने एक बेहद महत्वाकांक्षी परियोजना तैयार की और उसमें भारी निवेश भी किया। हिन्दी में उस योजना को 'अनुवाद का आंदोलन' कहना गलत नहीं होगा।

इस योजना के तहत होना ये था कि दुनिया भर के पुस्तकालयों को खंगालना था। फिर उनसे उनकी भाषा में लिखे गए वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के लेख इकट्ठा करने थे। इसके बाद उन्हें अपने साम्राज्य में लाकर उनका अनुवाद अरबी भाषा में किया जाना था। प्राचीन ग्रंथों को खोजने में विद्वानों ने उस वक्त जो प्रयास किये, वो अद्भुत थे।

अकादमिक लोगों की इसमें इसलिए भी दिलचस्पी थी कि किसी एक किताब को तैयार करके खलीफा की लाइब्रेरी से जोड़ना एक बेहद आकर्षक सौदा माना जाता था। कहानी ये भी है कि एक खलीफा अल-मामुन तो किताबों के इतने शौकीन थे कि वो अपने दूतों को सिर्फ एक किताब हासिल करने के लिए दूर से दूर भेजने को तैयार रहते थे। कई किस्से



हैं जिनमें उल्लेख है कि खलीफा को जिस दूत ने उनकी पसंदीदा किताब लाकर दी, उन्होंने उसे सोने से तोल दिया। खलीफा अल-मामुन ने उस जमाने में एक नामी विद्वान को जमीन का आकार मापने का काम भी सौंपा था। किताबों का संकलन करने में जो अकादमिक लोग उस वक्त मदद करते थे उन्हें 500 सोने की मुद्राएं दी जाती थीं। आज की कीमत से तुलना करें तो करीब 25,000 अमरीकी डॉलर प्रति माह। अकादमिक लोगों के लिए ये एक बड़ी राशि थी। इसके अलावा अकादमिक लोगों का समाज में बहुत ज्यादा सम्मान भी था।

बगदाद, काहिरा और समरकंद में यही हो रहा था। वहाँ सामग्री का संग्रह किया जा रहा था, उसका अनुवाद हो रहा था, विश्लेषण, भंडारण और संरक्षण भी किया जा रहा था। बगदाद एक बेहद सम्य और जीवंत शहर बन गया था। उस समय के एक यात्री ने लिखा है, “मैं जिस विद्वान से बगदाद में मिला, उसकी तुलना में कोई भी बुद्धिमान नहीं है। धर्मविदों की तुलना में कहीं ज्यादा विश्वासयोग्य। सभी कवियों से बड़ा कवि और इतना स्वतंत्र कि लापरवाही का अहसास होने लगे।”

शहर के बौद्धिक लोगों के लिए एक प्रणाली तैयार की गई थी जिसे ‘मजलिस’ का नाम दिया गया था। ‘मजलिस’ शब्द का अनुवाद ‘असेंबली’ या ‘बड़ी सभा’ के रूप में किया जा सकता है।

बगदाद में नौवीं शताब्दी आते-आते ये व्यवस्था इतनी विस्तृत हो गई कि खलीफा, उनके दरबारी और सेनापति ऐसी नियमित बैठकें आयोजित करने लगे जिनमें शहर के प्रमुख बुद्धिजीवियों जैसे कि दार्शनिकों, धर्मविदों, खगोलविदों और कलाकारों को भी विचार रखने और चर्चा करने के लिए आमंत्रित किया जाने लगा।

लेकिन इन मजलिसों की सबसे दिलचस्प बात ये थी कि इन बैठकों में किसी भी धर्म को मानने वाले लोग आ सकते थे। यह भी जरूरी नहीं था कि वो किसी विशेष विचार को मानते हों। यह एक खुला मंच था। इन सभाओं में बस एक ही चीज अनिवार्य थी और वो थी, अरबी भाषा में बोलना ताकि खलीफा बोलने वाले की बात समझ सके। साथ ही जरूरी था कि बोलने वाले के पास अपनी बात कहने का एक मजबूत तार्किक कारण हो।

खलीफाओं ने उल्लेख किया है कि मजलिसों के आयोजन का एक ही कारण था—साम्राज्य के सबसे बुद्धिमान लोगों को सामने लाना, उनकी बात सुनना और विचारों पर गौर करना, ताकि बुद्धि के साथ प्रभाव और ताकत का एक मिश्रण बनाया जा सके। मजलिसों के ‘बौद्धिक मंथन’ से ही गणित की शाखाओं पर चर्चा आगे बढ़ी, मेडिसन के क्षेत्र में प्रगति हुई और रसायन शास्त्र के लिए भी मौलिक प्रगति का रास्ता खुला। ये उन शताब्दियों के दौरान इस्लाम की दुनिया में विज्ञान पर जो कार्य हुआ, उसकी कहानी है। ये इतिहास किसी एक खोज तक सीमित नहीं है। ये उससे कहीं अधिक है। अगर कहा जाए कि ये विज्ञान के सार्वभौमिक सत्य के बारे में है, तो कुछ गलत नहीं होगा। मध्य-युगीन इस्लामिक वैज्ञानिकों की जो सबसे मुख्य उपलब्धि है वो ये हैं कि उन्होंने स्थापित किया कि विज्ञान का इस्लाम, हिंदू, यहूदी, बौद्ध या ईसाई धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। इस पर कोई भी संस्कृति अपना विशेष दावा नहीं कर सकती। इससे पहले कि विज्ञान दुनिया भर में बिखरा रह जाता, इस्लाम के स्वर्ण युग के विद्वानों ने सीमाओं की परवाह किये बिना ज्ञान को एकत्र किया और एक ‘विशाल वैज्ञानिक पहेली’ का पुनर्निर्माण किया। इससे न सिर्फ नए विज्ञान तक पहुंचने में मदद मिली, बल्कि विज्ञान ने ये साफ कर दिया कि वो राजनीतिक सीमाओं को लांघकर और धार्मिक संबद्धताओं को तोड़कर मानवता को लाभ पहुंचा सकता है। यही एक विचार है जो आज भी प्रासंगिक है और लोगों को प्रेरणा देता है।

□ मध्ययुगीन भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास की विवेचना कीजिए।

उत्तर :

मध्ययुगीन भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का विकास

मध्यकालीन युग (11 से 18वीं शताब्दी) में विज्ञान और प्रौद्योगिकी दो धाराओं में विकसित हुई। प्राचीन परम्पराओं पर आधारित प्रचलित ज्ञान इस्लामिक और यूरोपियन प्रभाव से उत्पन्न नये विचारों पर आधारित मकतब और मदरसे एक सुनिश्चित पाठ्यक्रम हेतु अस्तित्व में आए। इन संस्थाओं को शाही संरक्षण प्राप्त था। शेख अब्दुल्ला और शेख अजी जुल्लाह, दो भाई जिन्होंने तार्किक विज्ञान (मगुलत) में विशेषता प्राप्त की थी, संभल और आगरा के मदरसों के प्रमुख थे। अरब, पर्शिया और केन्द्रीय एशिया से विद्वानों को मदरसों में पढ़ाने के लिए आमन्त्रित किया जाता था।

शाही घरों और सरकारी विभागों में भंडारण और अन्य सामान की आपूर्ति के लिए राजाओं द्वारा बहुत सारे कारखाने चलाए गए। ये कारखाने न केवल सामान ही बनाते थे अपितु तकनीकी और व्यावसायिक प्रशिक्षण भी युवकों को प्रदान करते थे। इन कारखानों ने विभिन्न शाखाओं में ऐसे कलाकार और शिल्पी पैदा किए जिन्होंने बाद में जाकर अपने स्वतन्त्र कारखाने प्रारंभ कर दिए।

मुस्लिम शासकों ने प्राथमिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या को सुधारने का प्रयत्न किया। प्राथमिक शिक्षा में गणित, क्षेत्रमिति, ज्यामिति, ज्योतिष, लेखाशास्त्र, लोक प्रशासन और कृषि विज्ञान जैसे विषय सम्मिलित किए गए। यद्यपि शासकों ने शिक्षा में सुधार करने के लिए विशेष प्रयत्न किए, परंतु इस काल में विज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। भारतीय पारम्परिक वैज्ञानिक संस्कृति और दूसरे देशों में प्रचलित वैज्ञानिक दृष्टिकोण के मध्य समन्वय बनाने के प्रयास किए जाते रहे। मध्ययुगीन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास की विवेचना हम निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से कर सकते हैं—

मध्ययुगीन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास

1. → जीव विज्ञान
2. → गणित शास्त्र
3. → रसायन शास्त्र
4. → नक्षत्र विज्ञान
5. → औषध विज्ञान
6. → कृषि विज्ञान

1. **जीव विज्ञान (बायोलॉजी) :** तेरहवीं शताब्दी में हंसदेव द्वारा संपादित मृगपक्षीशास्त्र में शिकार के लिये प्रयुक्त कुछ पशु-पक्षियों के विषय में सामान्य जानकारी दी गई है। मध्ययुगीन शासक और शिकारी अपने साथ घोड़े, कुत्ते, चीते और बाज आदि रखते थे। उनकी पशुशालाओं में पालतू और जंगली, दोनों ही प्रकार के पशु रखे जाते थे। अकबर हाथी और घोड़े जैसे पालतू पशुओं की उत्तम नस्ल पैदा करने में विशेष रुचि रखता था। जहांगीर ने अपने 'तुजक-ए-जहांगीरी' में जनन प्रक्रिया और संकरण के अपने अवलोकन और प्रयोगों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। उन्होंने पशुओं की प्रायः 36 जातियों का वर्णन किया है। उसके दरबार के कलाकारों ने, विशेषतः मंसूर ने पशुओं के भव्य और शुद्ध चित्र बनाए जिनमें से कुछ आज भी अनेक संग्रहालयों और निजी संग्रहों में संरक्षित हैं। प्रकृतिवादी के रूप में जहांगीर पौधों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे और उसके दरबारी कलाकारों ने अपने पुष्प संबंधी चित्रों में लगभग 57 पौधों को प्रदर्शित किया है।
2. **गणित शास्त्र (मैथमेटिक्स) :** सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने कर्जों के रूप में ऋणात्मक संख्या को और धनात्मक संख्या को भाग्य के रूप में दर्शाया जिससे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय प्रायोगिक व्यवसाय में गणित का उपयोग जानते थे। प्रारंभिक मध्य युग में गणित के क्षेत्र में दो सुप्रसिद्ध ग्रंथ थे—श्रीधर का गणितसार और भास्कराचार्य की लीलावती। गणितसार में गुणा, भाग, संख्या, घन, वर्गमूल, क्षेत्रमिति आदि के विषय में बताया गया है। गणेश दैवज्ञ ने लीलावती पर बुद्धिविलासिनी नामक टीका लिखी जिसमें अनेक उदाहरण दिए गए हैं। 1587 ई. में लीलावती का अनुवाद फैदी ने फारसी में किया। शाहजहाँ के राज्य में अताउल्लाह रशीदी ने बीजगणित का अनुवाद किया। अकबर के दरबारी नीलकण्ठ ज्योतिर्विद ने 'ताजिक' ग्रंथ का संकलन किया जिसमें विभिन्न फारसी तकनीकी शब्दों से परिचय कराया गया। शैक्षिक व्यवस्था में अन्य विषयों के साथ अकबर ने गणित शास्त्र को भी सम्मिलित करने का आदेश दिया। बहाउद्दीन अमूली, नसीरुद्दीन, तुसी, अराक और अलकाशी ने इस क्षेत्र में अमूल्य योगदान किया। नसीरुद्दीन तुसी, जो मार्घ की वेधशाला के संस्थापक निदेशक थे, इस क्षेत्र में प्रमाण माने जाते थे।
3. **रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) :** कागज के आविष्कार से पूर्व प्राचीन साहित्य दक्षिण प्रदेश में प्रायः ताड़ के पत्तों पर और कश्मीर तथा देश के अन्य उत्तरी प्रदेशों में भोज पत्रों पर अंकित किया जाता था। कश्मीर, सियालकोट, जाफराबाद, पटना, मुर्शिदाबाद, अहमदाबाद, औरंगाबाद, मैसूर आदि प्रदेश कागज के उत्पादन के प्रसिद्ध केन्द्र थे। टीपू सुल्तान के समय मैसूर में कागज बनाने का कारखाना था, जिसमें ऐसा कागज बनाया जाता था जिसकी सतह सुनहरी होती थी। कागज बनाने की तकनीक पूरे देश में एक समान थी। सिर्फ विभिन्न कच्चे माल से लुगदी बनाने का तरीका अलग था।

मुगलों के पास बारूद के निर्माण और उसके बंदूक में प्रयोग की जानकारी थी। भारतीय शिल्पकारों ने भी इस तकनीक को सीखा और विभिन्न विस्फोटक पदार्थों का आविष्कार किया। वे शोरा, गंधक और लकड़ी के कोयले को अलग-अलग मात्राओं में मिलाकर बारूद बनाने और उसको विभिन्न प्रकार की बंदूकों में प्रयोग करना भी जानते थे।

आतिशबाजियों में प्रमुख किस्म उन रेकेटों की थी जो हवा को चीरते हुए जाते थे, अग्नि स्फुलिंगों को पैदा करते थे, विभिन्न रंगों में चमकते थे और अंत में धमाके के साथ फट जाते थे। तुजुक-ए-बावरी में तोप के गोले बनाने का भी वर्णन है। पिघले हुए द्रव्य को सांचा भर जाने तक उसमें डाला जाता था, फिर उसे ठंडा किया जाता था। विस्फोटक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी बनाई जाती थीं। आइने-अकबरी में अकबर के इत्र कार्यालय के नियमों का वर्णन है। गुलाब का इत्र एक सुप्रसिद्ध सुगंध थी जिसके आविष्कार का श्रेय नूरजहाँ की माँ को दिया जाता है। इस काल की चमकती टाइलें और चीनी के बर्तन भी उल्लेखनीय हैं।

4. **नक्षत्र विज्ञान (एस्ट्रोनॉमी) :** नक्षत्र विज्ञान में पूर्वस्थापित खगोलीय मतों का वर्णन करती हुई। टीकाएँ प्रकाशित हुई। उज्जैन, बनारस, मथुरा और दिल्ली में प्रमुख वेधशालाएँ थीं। फिरोजशाह तुगलक ने दिल्ली में वेधशाला बनवाई हमीम हुसैन जिलानी और सैयद मुहम्मद काजिमी के निर्देश पर फिरोज शाह वहमानी ने दौलताबाद में एक वेधशाला बनवाई सौर पंचांग और चन्द्र पंचांग दोनों ही प्रयोग किए जाते थे। फिरोज शाह के दरबार के नक्षत्रविज्ञानी महेन्द्र सूरी ने एक यंत्र 'यंत्रज' का विकास किया। परमेश्वर (केरल) और महाभास्करीय परिवार नक्षत्रविज्ञानियों के परिवार में ख्याति प्राप्त थे और पंचांग बनाने का काम करते थे। नीलकण्ठ सोमसुतवन ने आर्यभट्ट पर टीका लिखी। कमलाकर ने नक्षत्रविज्ञान पर इस्लामिक विचारों का अध्ययन किया। वह इस्लामिक विचारों के विषय में विशेषज्ञ भी था। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह-II ने दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी, मथुरा और जयपुर में नक्षत्रविषयक वेधशालाएँ बनवाई।

5. **औषध विज्ञान (मेडीसिन) :** विभिन्न बीमारियों पर विशेष शोधप्रबंध तैयार करने के प्रयत्न किये गए। बीमारियों का निदान करने के लिए नाड़ी और मूत्र का परीक्षण किया जाता था। शाङ्गधरसंहिता में औषधियों के रूप में अफीम का सेवन भी बताया गया है। रसचिकित्सा शास्त्र में बहुत-सी धातुओं से निर्मित औषधियों का वर्णन है, जिनमें धातु से निर्माण विधि भी वर्णित है। तुहफत-उल-मुमोनिन एक फारसी ग्रंथ है जिसे मुहम्मद मुनीन ने 17वीं शताब्दी में लिखा, जिसमें विभिन्न चिकित्सकों के मतों का वर्णन है। यूनानी तिब्ब औषधि विज्ञान की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है, जो भारत में मध्ययुग में प्रचलित हुई। अली बिन रब्बन ने ग्रीक औषधि व्यवस्था और भारतीय औषध विज्ञान का अपने ग्रंथ फिरदौसी-हिकमत में वर्णन किया है। यूनानी औषध व्यवस्था 11वीं शती के आसपास मुस्लिमों के साथ हिन्दुस्तान में आई और यहाँ विकास हेतु स्वस्थ वातावरण पाया। हकीम दिया मुहम्मद ने 'ए दियाई' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें अरबी, फारसी और आयुर्वेदिक औषध विज्ञान का वर्णन है। फिरोज शाह तुगलक ने एक अन्य ग्रंथ तिब्बे-फीरोजशाही लिखा। तिब्बी औरंगजेबी, जो औरंगजेब को समर्पित थी, आयुर्वेदिक स्रोतों पर आधारित है। नूरुद्दीन मुहम्मद की मुसलजाति-दाराशिकोही, जो दाराशिकोह को समर्पित है, ग्रीक औषध विज्ञान का वर्णन करती है।

6. **कृषि विज्ञान (एग्रीकल्चर) :** मध्ययुग भी खेतीबाड़ी का काम प्रायः ऐसे ही होता था जैसा प्रारंभिक प्राचीन भारत में था, तथापि विदेशियों के आगमन से कुछ आवश्यक परिवर्तन हुए, जैसे—नई फसलों का उगाना, पेड़ों और उद्यान विषयक पौधों की जानकारी। प्रमुख फसलें थी गेहूँ, चावल, जौ, बाजरा, दालें, तेल के बीज, कपास, गन्ना और नील।

पश्चिमी घाटों में किसान लगातार उत्तम किस्म की कालीमिर्च उत्पन्न कर रहे थे। कश्मीर अपनी केसर और फलों के लिए प्रसिद्ध था। तमिलनाडु से अदरक और दालचीनी, केरल से इलायची, चंदन और नारियल बहुत ही लोकप्रिय थे। तंबाकू, मिर्च, आलू, अमरूद, शरीफा, काजू और अन्नानास ऐसे नये पौधे थे, जो 16वीं-17वीं

शताब्दी में भारत में उगने लगे। मालवा और बिहार के क्षेत्र अफीम के पौधों से अफीम पैदा करने के लिए प्रसिद्ध थे। बागवानी के नए तरीके पूरी सफलता के साथ प्रयुक्त होने लगे। 16वीं शताब्दी के मध्य में गोआ के पादरियों के द्वारा आम की कलम बनाने की व्यवस्थापूर्ण शैली का परिचय दिया गया। सिंचाई के क्षेत्र में कुएं, तालाब, ऊँट रहट, मशक (चमड़े की बाल्टी) और ढेंकली का प्रयोग किया जाता था। ढेंकली के जुए में जुते बैलों से पानी निकाला जाता था। यह सिंचाई के प्रमुख साधन थे। पर्शियन चक्र का प्रयोग आगए के क्षेत्र में किया जाता था। मध्य युग में उस राज्य द्वारा खेती की ठोस नींव रखी गई जिसने भूमि को नापने और बांटने की नई व्यवस्था लागू की जो शासक और कृषक दोनों के ही हित में थी।

□ मध्यकाल में भारतीय प्रौद्योगिकी में हुए नए विकास कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : मध्यकाल में भारतीय प्रौद्योगिकी में हुए नए विकास : मध्ययुगीन भारत में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काफी सुधार और परिवर्तन हुए। हालाँकि ये परिवर्तन अधिकांशतः बाहरी क्षेत्रों से आए, फिर भी, भारत में भी तकनीकी दृष्टि से कुछ नवीनताएँ आयीं। बाहर से प्रेरित इस विस्तार से यह सिद्ध होता है कि तकनीकी युक्तियों (यंत्रों) के प्रयोग का अनुकरण करने, उन्हें लागू करने और उनका विस्तार करने के लिए लोग तैयार रहते थे और वे उसमें समर्थ भी थे। कुल मिलाकर, तकनीकी परिवर्तन के विरोध में कोई भावना दिखायी नहीं देती थी।

अब हम कुछ ऐसे तकनीकी यंत्रों की चर्चा करेंगे जिनका मध्ययुगीन भारत में आविष्कार किया गया था, फिर उनमें सुधार किया गया। मध्यकाल में भारतीय प्रौद्योगिकी में निम्नलिखित विकास कार्य हुए—

मध्यकाल में भारतीय प्रौद्योगिकी में हुए नए विकास

1. → गिअरन
2. → रहट
3. → पट्टे द्वारा संचालन
4. → वस्त्र बुनाई
5. → कागज का निर्माण
6. → आसवन
7. → वास्तुकला
8. → सैन्य प्रौद्योगिकी एवं गोला बारूद
9. → धातु के पेंच या स्कू
10. → जहाज निर्माण
11. → कृषि

1. **गिरन** : यह एक ऐसी युक्ति या यंत्र है, जो क्षैतिज गति (horizontal motion) को ऊर्ध्व गति (Vertical motion) में और ऊर्ध्व गति को क्षैतिज गति में परिवर्तित कर देता है (चित्र-1)। यह गति को तेज या कम भी करता है। गिरन का एक रूप स्क्रू की समानांतर चूड़ी है, जिसका जन्म प्राचीन भारत में हुआ। बहुत संभव है कि इसे कम्पूचिया ने 1000 ई. से पहले भारत से प्राप्त किया हो। मध्ययुग में समानांतर चूड़ी कसने की क्रिया का इस्तेमाल लकड़ी की कपास-ओटनी में किया जाता था। यह चीनी को लकड़ी के रोलरों से पीसने के काम में भी लायी जाती थी।

2. **रहत** : रहट (साकिया) के साथ ही समकोणीय पिन-ड्रम गिरन आयी। यह अरबों से मिली ऐसी युक्ति (यंत्र) है, जिससे पानी को अच्छे तरीके से ऊपर उठाया जा सकता है। भारत के पास पहले से ही पानी ऊपर उठाने की युक्तियाँ थीं, जैसे कि चरखी-प्रणाली (टेंकली) तथा माला (पॉट-चेन) युक्त रहट (अरघट्टा)। अरघट्टा के साथ पिन-ड्रम गिरन के अनुप्रयोग से वह रहट के नाम से पहचाने जाने वाले यंत्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसमें पशुओं को जोत कर गहरे स्तर से लगाकर प्रवाह के रूप में पानी उठाया जा सकता है। गिरन-चक्र और शाफ्ट (धुरा) लकड़ी के बने होते थे। पशुओं द्वारा एक समतल पिन-ड्रम को एक ऊर्ध्वाधर पिन-चक्र के साथ मिलाकर गोलाकार तरीके से घुमाया जाता था। पंद्रहवीं शताब्दी तक पंजाब तथा सिंध में रहट का प्रयोग व्यापक तौर पर किया जाता था। इससे सिंचाई के साधन में सुधार हुआ तथा इससे शायद उस क्षेत्र में कृषि का विस्तार संभव हुआ।

3. **पट्टे द्वारा संचालन :** ऊर्जा के संचरण के लिए अथवा गति को तेज या कम करने के लिए गजरन का अपक्षा पट्टे से संचालन का तरीका आसान है (चित्र-2)। पट्टे से संचालन का तरीका भारत में चर्खे के रूप में आया। चर्खे से कताई की गति लगभग छह गुना तेज हो गयी। इससे अवश्य ही सूत और वस्त्र के दाम कम हुए होंगे। सत्रहवीं शताब्दी में चर्खे में क्रैक हैंडल लगाकर उसमें और सुधार किया गया। हीरे को काटने में भी पट्टे से बरमा चलाने का प्रयोग शुरू हुआ।

4. **वस्त्र-बुनाई :** पंद्रहवीं शताब्दी से प्राप्त एक शब्दकोश से यह पता चलता है कि बुनाई में गति को नियंत्रित करने के लिए पांच के पैडल के इस्तेमाल से और अधिक सुधार हुआ (चित्र 3)।

करघों में ट्रैडलों (पैर द्वारा संचालित युक्तियों) के लग जाने से बुनकर अब अपने पैरों का इस्तेमाल हैंडलों को बारी-बारी से उठाने में कर सकता था। इस प्रकार उसके हाथ शटलों को आगे-पीछे की ओर फेंकने के लिए स्वतंत्र हो गये थे। इससे बुनाई की गति दुगुनी हो जाती थी।

सत्रहवीं शताब्दी तक रंगाई के बहुरंगी पैटर्न के दोनों तरीकों का इस्तेमाल किया जाने लगा, अर्थात् रंगों को पैटर्न या डिजाइन के अनुसार सीमित रखने के लिए प्रतिरोध (रेजिस्ट) का प्रयोग तथा रंगों को बाँधने वाले रंग-स्थापक (मॉर्डेंट) का प्रयोग। शायद उसी शताब्दी में भारत में प्रत्यक्ष ब्लॉक-मुद्रण की कला लोकप्रिय हो गयी। इस तकनीक से मुद्रण में समय की काफी बचत होने लगी।

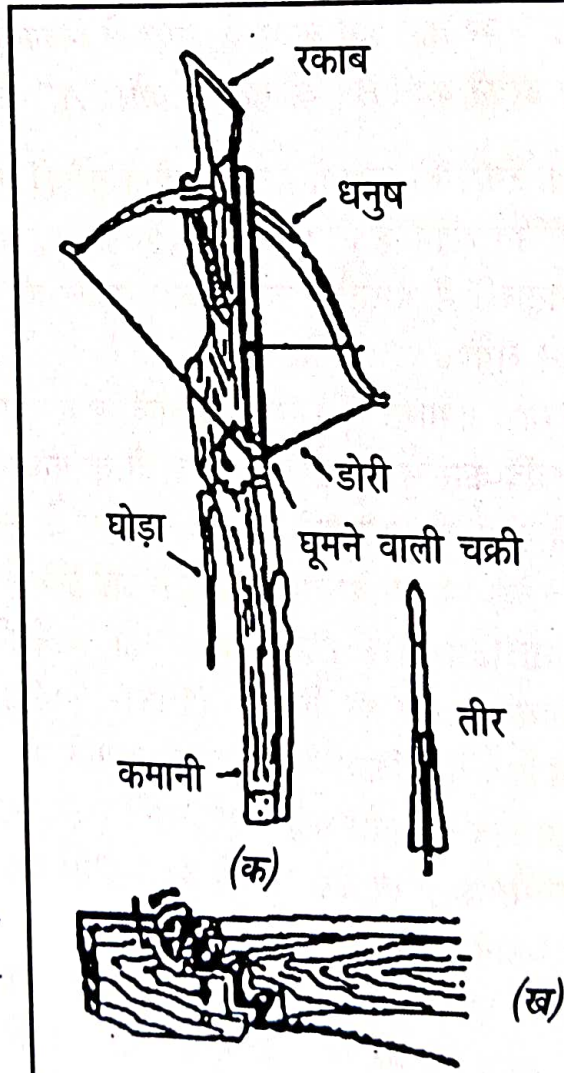
5. **कागज का निर्माण :** भारत में ग्यारहवीं शताब्दी तक कागज का प्रयोग नहीं किया जाता था। ईसा की प्रथम शताब्दी में चीन का यह आविष्कार मुख्यतः ग्रीक विजेताओं के माध्यम से हिन्दुस्तान पहुँचा। एक बार शुरुआत होने पर इसका निर्माण तेजी से होने लगा और चौदहवीं शताब्दी के मध्य के तक कागज इतना सस्ता हो गया कि इसका इस्तेमाल न केवल लिखने के लिए बल्कि मिठाई-विक्रेताओं द्वारा मिठाई लपेटने के लिए भी किया जाने लगा।

6. **आसवन (Distillation) :** शराब निकालने की तकनीकी जानकारी भी भारत में तेरहवीं शताब्दी में आयी। यद्यपि भारत के प्रसिद्ध रसायन शास्त्री श्री पी.सी.रे. (1861-1944 ई.) तथा पुरातत्वीय सबूत के आधार पर हाल ही में अल्विन तथा नीढम ने यह तर्क पेश किया है कि शराब चुआने का काम प्राचीन भारत में लोगों को ज्ञात था, तथापि आसवन की मात्रा बहुत कम होती थी और पद्धति भी उतनी कुशल नहीं थी। तेरहवीं शताब्दी के साथ ही विभिन्न प्रकार की आसवन (शराब के साथ-साथ गुलाब जल चुआने की पद्धति) पद्धतियाँ विकसित हुईं और इसमें कोई संदेह नहीं कि विशुद्ध (आसवित) स्पिरिट बनाने को काफी बढ़ावा मिला।

7. **वास्तुकला :** तुर्की द्वारा विजय हासिल करने के बाद भारत की वास्तुकला की शैली में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। सुल्तानों और उनके सामंतों ने मेहराबों और गुंबजों की मांग की और भारतीय राजगीरों ने उन्हें बनाने में सफलता

पायी। इस समय बने हुए प्रथम मेहराब का उदाहरण 1280 ई. की बनी हुई बलबन की कब्र है। प्रथम गुंबज का उदाहरण अलाई दरवाजा है जिसका निर्माण 1305 ई. में हुआ था। भवन-निर्माण की प्रौद्योगिकी में परिवर्तन से चूने के गारे का इस्तेमाल शुरू हुआ और इन दोनों ने मिलकर, धरणिक (trabeate) वास्तुकला को चापाकार (arcuate) वास्तुकला में बदल दिया। असली मेहराब का सिद्धांत शायद प्राचीन भारत को ज्ञात था, किंतु बड़े मेहराब फिर भी नहीं बनाये जा सके थे। (चित्र-4)। चूना-गारे के इस्तेमाल से तालाबों के फर्शों और दीवारों को पक्का बनाया गया, जिससे पानी रिसता नहीं था। इस प्रकार भारत के जगप्रसिद्ध रंग नील के उत्पादन के लिए जरूरी जल-निरोध तालाबों और हौजों का निर्माण हुआ।

8. सैन्य प्रौद्योगिकी एवं गोला-बारूद : सैन्य प्रौद्योगिकी में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। तेरहवीं शताब्दी के पहले ही घुड़सवारों के लिए रस्सी तथा लकड़ी की रकाबों की जानकारी भारत को थी। किंतु लोहे की बनी रकाबों की शुरुआत शायद गौरी तथा तुर्की बादशाहों द्वारा की गयी थी। इससे घुड़सवारों की लड़ने की क्षमता में काफी सुधार हो गया था। साथ ही, घोड़ों को नाल लगाने से उनकी कार्यकुशलता और भी बढ़ गयी।



चित्र 5 : (क) आड़ी कमान (ख) आड़ी कमान की कार्य प्रणाली। कमान की डोरी को पीछे की तरफ खींच कर चक्री में पकड़ लिया जाता है। (A) तीर, को कमानी पर बने खाँचे में रखा जाता है। (B) घोड़े को ऊपर की तरफ दबाने पर (C) छड़ी गिर जाती है (D) जिससे गोल चक्री घूमने लगती है और तीर हवा में तेजी से जाता है।

तुर्की अपने साथ आड़ी-कमानें (धनुष) लाये (चित्र-5)। इनमें धनुष के समकोण पर एक अतिरिक्त नलीनुमा खाँचा होता था, जिसमें तीर फिट किये जाते थे। खाँचे से तीर का निशाना अधिक सही और अचूक बन सकता था। यह खाँचा संभवतः हस्तचालित बंदूक के नाल का प्रारंभिक रूप था।

सैन्य प्रौद्योगिकी में विकास का अगला चरण तोप और बारूद का प्रयोग था। यह नवीन खोज भारत को ऑटोमन साम्राज्य से पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्राप्त हुई और इस साम्राज्य को यह यूरोप से प्राप्त हुई थी।

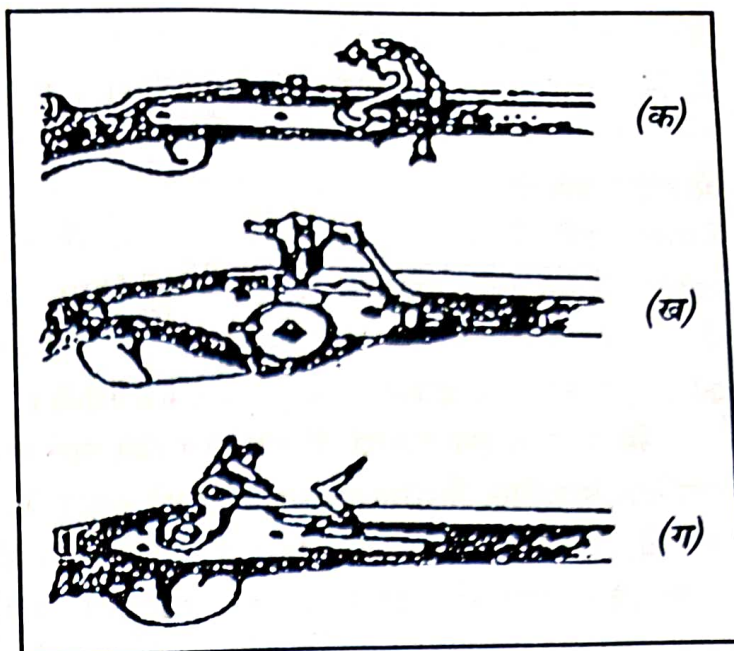
अकबर के समय तक शाही-शस्त्रागार में तोड़ेदार नल्लें और उनका उत्पादन आम बात हो गयी (चित्र-6 क)। तोड़े की आवश्यकता को खत्म करने और बंदूक की नाल को सुदृढ़ करने की दृष्टि से इसमें कई सुधार किये गये। अकबर के शस्त्रागार को एक चक्रदार बंदूक के निर्माण में सफलता मिली (चित्र-6 ख)। इसमें घोड़ा दबाने से स्प्रिंग के स्वतंत्र होने पर दांतेदार धार वाला चक्र पाइराइट के टुकड़े पर घूमने लगता था जिससे रंजक-पटल (priming pan) में चिंगारियाँ निकलने लगती थी। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यूरोप में व्यापक रूप से इस्तेमाल की जाने वाली चकमक पत्थर कला (flint lock) बंदूक का उपयोग बाद में भारत में भी किया जाने लगा (चित्र-6 ग)।

बंदूकों की नाल बनाने के लिए बंदूक बनाने वालों के सामने एक समस्या आयी। नाल के अंदर विस्फोट को बर्दाश्त करने के लिए नाल का मजबूत होना जरूरी था। बंदूक की नली और निशाना साधने की सीध बनाने में बहुत अधिक परिशुद्धता की जरूरत होती थी। अकबर के शस्त्रागार में लोहे की चपटी चादरों को बेलनाकार रोल किया जाता था और किनारों को वैल्ड कर दिया जाता था। उसके बाद नली पर अंदर से काम किया जाता था। यूरोप में अठारहवीं शताब्दी तक इसी तकनीक का प्रयोग होता रहा।

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक विश्व में कांसे की सबसे वजनदार तोपें ढालने का श्रेय भारत को जाता है। किंतु यह जरूरी नहीं था कि भारी तोपें कार्यकुशल भी हों, क्योंकि उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने-ले जाने में कठिनाई होती थी और उनमें परिशुद्धता भी कम होती थी। हम पाते हैं कि अकबर ने ऐसी हल्की तोपों के निर्माण पर अधिक ध्यान दिया, जिसे एक आदमी आसानी से खींच सके।

भारतीय सेना में एक और महत्वपूर्ण यंत्र का इस्तेमाल किया जाता था। इसे बाण या रॉकेट कहते थे। यह बांस का बना होता था, जिसमें लोहे के सिलेंडर थे और इन गोलाकार सिलेंडरों के सिरों पर ज्वलनशील सामग्री होती थी। यही वह भारतीय रॉकेट था, जिससे प्रेरित होकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'कांग्रीव' ने रॉकेटों का आविष्कार किया।

9. धातु के पेंच या स्क्रू : एक अन्य महत्वपूर्ण यंत्र, जिसमें सही उपकरण तथा मशीनरी बनाने की भारी क्षमता थी, धातु का पेंच (screw) था। धातु के टुकड़ों को आपस में जोड़कर रखने के लिए यूरोप में इसका प्रयोग पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में होने लगा। यांत्रिकीय दीवार घड़ियों में तो इसका प्रयोग बहुत ही महत्वपूर्ण था। भारत में पेंच का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक होने लगा था और तब भी यह यूरोप में इस्तेमाल किए जाने वाले पेंच का मुकाबला नहीं करता था। लैथ मशीनों के अभाव में खाँच नहीं काटे जा सकते थे, इसलिए कीलों के चारों ओर तारों को टांक दिया



चित्र 6 : (क) तोड़ेदार बंदूक के घोड़े को खींचने पर हथौड़े द्वारा जलती हुई डोरी सुराख के अन्दर जाकर बारूद में विस्फोट पैदा करती है। (ख) चक्रदार बंदूक : घोड़ा दबाने से कमानी खुल जाती है। स्टील के चक्र द्वारा चमकदार पत्थर के घर्षण से बारूद में विस्फोट होता जाता है। (ग) पत्थरकला बंदूक : घोड़े को दबाने पर कमानी हथौड़े को नीचे खींच लेती है जिसके सिरे पर लगे चकमक पत्थर या लोहे से उत्पन्न चिंगारियाँ बारूद में आग लगा देती हैं।

जाता था, जिससे खाँचों का आभास होता था। खराद लेथों के अभाव में ऐसा करना पड़ता था, जबकि यूरोप में खाँचे बनाने के लिए लेथ मशीनों का प्रयोग किया जाता था। अपनी इसी सीमा के कारण भारतीय पेंच ठीक से फिट नहीं बैठता था।

10. जहाज निर्माण : सत्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय तकनीकी के कारण पोत-निर्माण उद्योग में भारी परिवर्तन हुए। भारतीय जहाजों को यूरोपीय लोग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक “कबाड़” कहा करते थे। ये बहुत बड़े होते थे और विस्तृत पालों के सहारे से चलते थे। कुछ मामलों में तो नकल मूल से भी आगे निकल गयी। जहाँ एक ओर यूरोपीय जहाज-निर्माता सादी कलापट्टी (caulking) किया करते थे, वहाँ दूसरी ओर एक तख्ते से दूसरे तख्ते को कसकर जकड़ने के भारतीय तरीके से और ज्यादा मजबूती आती थी। भारतीय पोतों के तख्तों पर चूने के मिश्रण का हाथ फेरने से जहाज को समुद्री कीड़ों से बचाने में बहुत सफलता मिली।

किन्तु जहाँ तक जहाजों में इस्तेमाल होने वाले उपकरणों का सवाल है, उनमें भारत यूरोप से बहुत पीछे था। भारतीय वैज्ञानिक आधुनिक नौसंचालन उपकरणों को बनाने में असफल रहे। भारतीय जहाजों पर जो मुख्य उपकरण इस्तेमाल किए जाते थे, वे अब भी पुराने थे। बाद में सत्रहवीं शताब्दी में, भारतीय जहाजों पर यूरोपीय कप्तानों और नौसंचालकों को नियुक्त किया गया और यह स्वाभाविक ही था कि इन्होंने यूरोप से मंगवाये गये दूरबीनों, क्वार्ट्रेंटों और अन्य उपकरणों का प्रयोग किया।

11. कृषि : कृषि भारत का सबसे बड़ा उद्योग था। भारतीय किसान प्राचीन काल से बीजों को कतारों में बोया करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने “छिद्ररोपण” शुरू किया, अर्थात् लकड़ियों से जमीन खोदकर छेदों में बीज डालकर बुआई करने लगे। कई क्षेत्रों में वे फसलों के क्रम-परिवर्तन का भी सहारा लेते थे। भारतीयों द्वारा उपजाये जाने वाले अनाजों की संख्या भी काफी अधिक थी। अबुल फजल ने खरीफ फसल में 50 किस्म के अनाजों और रबी मौसम में 35 किस्म के अनाजों का उल्लेख किया है। फसलें अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग थीं। भारतीय किसान का सर्वाधिक उल्लेखनीय गुण यह था कि वह नयी फसलें उगाने के लिए हमेशा तैयार रहता था। नये विश्व से सत्रहवीं शताब्दी में जो नयी किस्म की फसलें आयीं उनमें तंबाकू तथा मक्का प्रमुख थे। इन फसलों को बड़े पैमाने पर उपजाना शुरू कर दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी तक बंगाल के किसानों ने भी रेशम का उत्पादन शुरू कर दिया। सत्रहवीं शताब्दी तक बंगाल विश्व में रेशम का निर्यात करने वाले एक बड़े क्षेत्र के रूप में उभर कर सामने आया।

जहाँ तक बागवानी का सवाल है, इसे कुलीन वर्ग के प्रोत्साहन से फलने-फूलने का अवसर मिला। कलमबंध करने के कई तरीके इस्तेमाल किये गये। कश्मीर में मीठी चेरी (sweet cherry) कलमबंध से प्राप्त की गयी। अखरोट का उत्पादन इसी तरीके से अन्य क्षेत्रों में शुरू किया गया। शाहजहाँ के समय में इसी तकनीक से संतरों की किस्म में काफी सुधार किया गया। पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों ने आमों को कलमबंध करना शुरू किया और इस तरीके से आम की पहली किस्म “अल्फोंसो” (alfonso) पैदा की गयी। आम को कलमबंध या रोपण करने का तरीका अठारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में फैल गया था।

संक्षेप में यदि हम मध्ययुगीन भारत में विज्ञान के विकास के 600 वर्षों की ओर नजर डालते हैं, तो हमारे हाथ केवल निराशा ही लगेगी। खगोल विज्ञान, चिकित्सा तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में छुटपुट प्रगति हुई, किन्तु यह सब उसी पुराने ढर्रे या उसी नजरिये से हुआ, जिसे प्रायः “एरिस्टोटेलियन” (अरस्तुवादी) कहा जाता है। यह एक ऐसा संसार था जो यथास्थिति से होकर गुजर रहा था और जो आगे चलकर भी वहीं बना रहेगा; एक बह्मांड, जिसके केंद्र में तो पृथ्वी थी तथा सभी वस्तुएँ पाँच तत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु से बनी थीं। यूनानी समाज अथवा सामतवादी ढाँचे में प्रचलित मालिक और गुलाम की अवधारणा इतनी सहज थी कि इसकी लपेट में वास्तविक जगत भी आ गया, जहाँ हर वस्तु का स्थान नियत था और वह उसे सौंपे गए कार्य को पूरा करती थी।

किसी भी विषय में नवीनतम जानकारी को शामिल करने का प्रयास नहीं किया गया और समकालीन यूरोप में क्या-क्या खोजें हुई हैं, इनको जानने तक की भी कोशिश नहीं की गई। ऐसी सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक समझ विकसित करने की तरफ तो और भी कम प्रयास किया गया, जिसमें ज्ञान के हर पहलू का समावेश हो सके। विश्व में जो असाधारण

और उल्लेखनीय प्रगति हुई उसमें भी कम ही दिलचस्पी जाहिर की गई, जैसे कि कोपर्निकस की सौर प्रणाली का नमूना, गैलीलियो के कार्य (1610 ई.), गुरुत्वाकर्षण पर न्यूटन की महान् खोज (1665 ई.) अथवा विलियम हार्वे द्वारा रुधिर संचरण (1628 ई.) की खोज तथा छापेखाने का आविष्कार, जिसके फलस्वरूप ज्ञान का भंडार अधिकाधिक व्यक्तियों तक पहुँच सका या फिर दूरबीन (1600 ई.) तथा सूक्ष्मदर्शी यंत्र (माइक्रोस्कोप) का आविष्कार। यह बात उल्लेखनीय है कि उस समय स्थापित ज्ञान के कुछ केन्द्र धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार एवं प्रसार कर रहे थे, चाहे वह हिंदू धर्म या मुस्लिम धर्म या फिर वे पहले से स्थापित ज्ञान को समझाने में लगे थे। उनका प्रयास नये आयामों को खोजने तथा नई वस्तुओं को विकसित करने की ओर नहीं था।

□ भारत में विज्ञान की प्रगति में आने वाली बाधाओं पर एक लेख लिखिए।

उत्तर :

भारत में विज्ञान की प्रगति में बाधाएँ

अठारहवीं शताब्दी तक, समाज का ढांचा बहुत जटिल हो गया था। इसलिए इस संदर्भ में ज्यादा सरल बनाये बगैर विज्ञान की चर्चा करना मुश्किल है, क्योंकि इसका जन्म समाज में ही हुआ था और इसने समाज में योगदान दिया। फिर भी सरलीकरण से यदि सही-सही ज्ञान हो जाए और पूरी तस्वीर साफ-साफ सामने आये तो यह अच्छी बात है, क्योंकि इससे हमें विज्ञान और समाज के पारस्परिक संबंधों को समझने की दृष्टि मिलती है।

इस संक्षिप्त चर्चा के बाद आपके मन में यह बात जरूर आई होगी कि भारतीय विज्ञान का स्तर वही था जो दूसरे देशों में था। खासकर, लगभग सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक इसका स्तर वही था जो यूरोपीय विज्ञान का था। किंतु यूरोपीय विज्ञान ने अपने विकास का क्रम निरंतर जारी रखा और इस प्रकार हिंदुस्तान को आगे आने वाले समय में काफी पीछे छोड़ दिया। वास्तव में ब्रिटिश लोगों ने इस देश को गुलाम बना लिया और अपने विकसित विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा उद्योग के बलबूते पर इसे अपना उपनिवेश बना लिया। अब यह सवाल उठता है कि सोलहवीं शताब्दी के यूरोप और भारत में क्या अंतर था। यदि आपको इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने में दिलचस्पी है, तो आपको इतिहास का अध्ययन गहराई से करना होगा। किंतु इसे सरल रूप में कहना चाहें तो हम कहेंगे कि दोनों समाजों में मूल अंतर इनके सामाजिक ढांचे, धार्मिक कट्टरता और बौद्धिक वातावरण में था। आइए, इस पर कुछ विस्तार से विचार करें।

हमने जाना कि ज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति तब होती है जब उस पर मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक प्रकार का दबाव पड़ता है। एक पुरानी कहावत है, “आवश्यकता आविष्कार की जननी है”। ऐसा लगता है कि देश के विभिन्न भागों एवं राज्यों के शासकों के बीच समय-समय पर होने वाले युद्धों के बावजूद भारतीय समाज में उल्लेखनीय स्थिरता थी। जनसंख्या कम थी, भूमि उपजाऊ थी और थोड़ी-सी जमीन से ही भारतीय किसान अपने जीवन की आवश्यकताएं पूरी कर लेते थे। वे अपने लिए भोजन और वस्त्र की व्यवस्था कर लेते थे। आज हम जिस प्रकार की भूख और गरीबी देखते हैं, ऐसा उस समय कुछ नहीं था, हालाँकि लोग गरीब थे। आज हमें जो अभाव दिखाई देते हैं, वे अधिकांशतः ब्रिटिश नीति का परिणाम हैं, जो हम पर लादी गयी थी। सामाजिक दशा भी स्थिर थी, जाति प्रथा ने जड़ें जमा ली थी। धर्म के प्रभाव ने, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, और जाति व्यवस्था ने भाग्य से समझौता करने की प्रवृत्ति तथा सामाजिक वर्गीकरण को बढ़ावा दिया। इस विचार को मान्यता प्राप्त थी कि अनंतकाल से ब्रह्माण्ड में मृत्यु और पुनर्जन्म का कभी न खत्म होने वाला चक्र चलता आ रहा है जिसमें मौलिक रूप से नया कुछ भी नहीं होता है। उस समय समाज में एक अनोखा संतोष विद्यमान था जिसके कारण न तो नयी तकनीकों के माध्यम से उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया जाता था और न ही सामाजिक परिवर्तन पर।

हाथों से परिश्रम करने वालों का ज्ञान के भंडार में कोई योगदान नहीं होता था। और जिन लोगों के पास समय से पीछे पड़ चुका ज्ञान था उन्हें उस ज्ञान को व्यवहार में परखने की में कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। राज्य या तो आपस में

युद्ध किया करते थे या फिर लंबे समय तक शांति कायम रखते थे। यह सोचना स्वाभाविक लगता है कि ऐसे समाज में नये उत्पादों और नयी प्रक्रियाओं के विकास के लिए कोई आग्रह नहीं था। किसी भी समाज में स्थिरता तथा ठहराव का चोली-दामन का संबंध आसानी से हो सकता है। धनी व्यक्तियों को बदलाव की कोई जरूरत नहीं थी और गरीबों को बदलाव लाने का कोई अधिकार ही नहीं था।

भारत में जब इस्लाम का प्रभाव लगातार आता रहा, तो उसकी प्रवृत्ति ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली आम जनता के जीवन में बाधा पहुँचाने की नहीं थी। उसने उन प्रबल धार्मिक लोकाचारों में हस्तक्षेप नहीं किया जिन पर हिंदुओं का प्रभुत्व था। यही नहीं, उसने अपनी उदार विचारधारा से जाति व्यवस्था को भी संरक्षण प्रदान किया, जो भारत में अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी। हम पाते हैं कि देश के प्रशासन और सैन्य बलों के स्तर पर दोनों समुदायों के उच्च स्तरीय लोगों में आपसी सहयोग था। मुस्लिम बादशाहों के हिंदू सेनापति भी होते थे और हिंदू राजाओं के मुस्लिम सेनानायक भी होते थे। वे लोग आपस में लड़ते थे, अपने-अपने राजाओं की रक्षा भी करते थे। यह स्वाभाविक ही था कि उनमें सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता और दोनों संस्कृतियाँ आपस में मिलती। आज जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, यह विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले हमारे लोगों और भिन्न युगों में बाहर से आकर भारत में बसने वाले लोगों के बीच सदियों की अंतःक्रिया का परिणाम है।

धार्मिक स्तर पर हिंदुओं और मुसलमानों में सह-अस्तित्व की भावना थी। यह शायद एक अनिवार्यता थी, क्योंकि मुसलमानों की संख्या कम थी। वास्तव में वे बहुसंख्यक लोगों के साथ कोई झगड़ा मोल ले ही नहीं सकते थे, अगर वे आने वाली कई शताब्दियों तक भारत में अपना शासन करना चाहते थे।

यह सह-अस्तित्व इसलिए भी रहा क्योंकि पुरोहितों का लोगों पर अच्छा प्रभाव था और एक-दूसरे के धर्म में किसी भी हस्तक्षेप के गंभीर राजनीतिक परिणाम निकल सकते थे। इससे अशांति पैदा हो जाती। अतः वे एक-दूसरे की बातों में दखल नहीं देते थे। इसके अतिरिक्त, दोनों धर्मों के पुरोहित काफी धनीमानी थे और अपनी आर्थिक स्थिति से संतुष्ट थे। दोनों धार्मिक पद्धतियों के अंदर भी कोई सक्रिय विरोध या विवाद नहीं थे और सुधार के लिए कोई अभियान या आंदोलन भी नहीं था। मध्ययुग में भक्ति तथा सूफी पंथ के आंदोलन अवश्य सामने आए। इन संप्रदायों ने धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश दिया और ये जाति प्रथा के कट्टर आलोचक थे। किंतु उनका प्रभाव बहुत व्यापक इसलिए नहीं रहा क्योंकि उनकी पहुँच ज्यादा लोगों तक नहीं थी।

संभवतः ऐसा मुद्रणकला के अभाव के कारण था। ऐसा कहा जाता है कि जब जहाँगीर को एक मुद्रित पुस्तक भेंट की गयी, तो उन्होंने उसे हस्तलिखित पांडुलिपि, जिस पर उन्हें गर्व था, की तुलना में भद्दी और असुंदर बताकर फेंक दिया। शायद उन्हें इस बात का ठीक-से एहसास न था या उनकी विशेष रुचि नहीं थी कि सस्ती पुस्तकें उपलब्ध हो जाने से बड़े पैमाने पर लोगों के जीवन को लाभ पहुँच सकता है। यह सोलहवीं शताब्दी के यूरोप की तुलना में एकदम विपरीत था। यूरोप में छपी हुई सामग्री उपलब्ध होने के कारण उससे सुधारवादी आंदोलन को व्यापक रूप से प्रचार एवं प्रसार का अवसर मिला तथा उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

भारत में शिक्षा काफी हद तक धार्मिक अध्यापन तक सीमित थी और बौद्धिक वातावरण सोचने के प्रचलित तरीकों को चुनौती देने या नये सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के पक्ष में नहीं था। ऐसे वातावरण में शायद ही कोई स्वतंत्र विचार प्रकट करने का साहस कर सकता था। गैलीलियो द्वारा प्रस्तावित एवं प्रदर्शित यह तथ्य कि सूर्य, ब्रह्माण्ड के केंद्र में है, आदि नयी बातों को स्वीकार करना तो और भी मुश्किल था। इसका कारण यह था कि नये सिद्धांत के प्रतिपादन से ईश्वरीय विधान में रुकावट आ सकती थी, जिसके अनुसार संपूर्ण सृष्टि में मनुष्य के रहने के स्थान अर्थात् पृथ्वी को एक केंद्रीय स्थान प्राप्त था। वास्तव में, शायद ज्योतिष शास्त्र को इतना सम्मान प्राप्त था कि उसके चलते थोड़ा-बहुत खगोलशास्त्र भी विकसित होता रहा, तो भी समाज में उसकी स्थिति पर कोई फर्क न पड़ा। इसी तरह कीमियागिरी से अभी भी लोगों को आशा थी कि उसकी किसी-न-किसी विधि से, भले ही वह रहस्यमय या अतार्किक ही क्यों न हो, सभी धातुओं को सोने में बदला जा सकता था। इसी कीमियागिरी के चलते, लोग थोड़ा-बहुत रासायनिक तकनीकों पर भी हाथ आजमा

लेते थे। कट्टरता का बोलबाला था और शाश्वत तथा उद्घाटित सत्य में इतनी आस्था थी कि इससे स्वतंत्र विचार एवं चिंतन को बढ़ावा नहीं मिला और न ही कल्पनाशील और साहसी विचारों को कभी कोई प्रोत्साहन मिला। दूसरे शब्दों में कहें तो विद्वानों के पास सीमित विचार थे जिनमें जरूरी नहीं था कि वे कोई परिवर्तन करें और जिन लोगों की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी, जो सामंतशाही व्यवस्था से पीड़ित थे, उनकी शिक्षा तक पहुँच नहीं थी।

यदि ये कारण न होता, तो हम यूरोप की अपेक्षा अधिक लाभप्रद स्थिति में थे, क्योंकि अरबी तथा भारतीय विज्ञान की मजबूत धाराएँ यहाँ साथ-साथ विद्यमान थीं। हमें यूरोप से बहुत आगे होना चाहिए था। सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में अरब लेखकों की अनेक पुस्तकों को पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पढ़ाया जाता था। उदाहरण के तौर पर, अल-फरगनी द्वारा लिखित “खगोल विज्ञान सार”, अल-रजी द्वारा लिखित “हॉवी लिबर कॉटीनेंस,” इब्न सिना की “कैनन” और एवरोस की “कॉलीजेट” आदि (ये सभी चिकित्सा शास्त्र की पुस्तकें हैं)। ये सभी पुस्तकें भारत में उपलब्ध थीं। इनका इस्तेमाल किया जा सकता था, किंतु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। 16वीं और 17वीं सदी में यूरोप में कई वैज्ञानिक प्रगतियाँ हुईं। उदाहरण के लिए, कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन के कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है। किंतु भारत में उनका व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण यह था कि तत्कालीन भारतीय वैज्ञानिक इन कार्यों के महत्त्व को सही रूप में नहीं देख पा रहे थे। इस प्रकार की उदासीनता और लापरवाही तथा उपर्युक्त अन्य कारणों से हम प्रगति की दौड़ में पीछे रह गए।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि एक परंपरावादी, वर्ग विभाजित समाज, जिसमें दोनों धर्मों के कारण बहुत थोड़ा असंतोष और रूढ़िवादिता थी, ने विज्ञान की प्रगति को अनावश्यक समझा। स्वाभाविक था कि ऐसे समाज से वैसी वैज्ञानिक क्रांति लाने की आशा नहीं की जा सकती थी, जैसी कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में समकालीन यूरोप में हो रही थी। वैसे यह जीवन की सुंदर वस्तुओं, जैसे कि नाटक तथा संगीत, नृत्य तथा चित्रकला, वास्तुकला एवं काव्य आदि पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकता था और इसने किया भी। मध्ययुगीन समाज का कम-से-कम यही एक उज्ज्वल पक्ष था।

पूर्व औपनिवेशिक भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी

(Science and Technology in Pre-Colonial India)

M.A. History (Semester-1)

Paper Code : 20HIS21D1

M.D.U.

